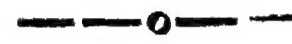
काव्य-मीमांसा



काव्य, अलंकार, रस, भावादि
की
सरल, सुबोध और मार्मिक
विवेचना



लेखक

पं० रामचन्द्र शुक्ल 'सरस'

प्रकाशक

अग्रवाल प्रेस, प्रयाग।

प्रथमबार] १९३१ [मूल्य १)

वक्तव्य

वर्तमान समय में हिन्दी-साहित्य प्रतिदिन उन्नति-पथ पर अग्रसर हो रहा है। हिन्दी-भाषा और हिन्दी-साहित्य को उसके हितेच्छुओं के प्रभाव से अब इंटर-कालेजों और विश्व-विद्यालयों की उच्च परीक्षाओं में भी अच्छा स्थान प्राप्त हो गया है।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की परीक्षाओं ने भी हिन्दी और हिन्दी-साहित्य की उन्नति में बड़ी सराहनीय सहायता की है। फलतः हिन्दी भाषा में अनेक सुन्दर पुस्तकें प्रकाशित करने के लिए प्रकाशक और विद्वान लेखक प्रोत्साहित होकर बड़ी तत्परता से कार्य करने लगे हैं।

साहित्य का एक सब से प्रधान-अंग काव्य है जो अलौकिक आनन्द देता है किन्तु जब तक काव्य के सम्पूर्ण अंगों का यथेष्ठ ज्ञान न प्राप्त कर लिया जाय, तब तक सत्काव्य का समझना और उससे अलौकिक-आनन्द प्राप्त करना कठिन ही होता है। अस्तु इन्टरमीजियेट और साहित्य-सम्मेलन की प्रारम्भिक-परीक्षाओं के विद्यार्थियों को काव्य-शास्त्र के सभी प्रमुख अंगों से सूक्ष्म रूप में परिचित कराने के लिये यह पुस्तक आज कल की नवीन-प्रणाली के अनुसार तय्यार की गई है। इस विषय की जो पुस्तकें उक्त कक्षाओं के लिए बनी हैं वे

यद्यपि अच्छी हैं, तथापि विद्यार्थियों के लिये सरल और सुबोध नहीं। कुछ प्रायः प्राचीन-शैली की ही हैं, हां कुछ गद्यात्मक होकर उनसे कुछ सरल हैं। इसी से इसमें इस बात का पूरा ध्यान रक्खा गया है कि यह दुर्बोध विषय; यथासाध्य विद्यार्थियों को सर्वथा स्पष्ट हो सके। समस्त कठिन स्थलों को समझाने का पूरा प्रयत्न किया गया है।

उदाहरण देकर उसे समझाते हुये उससे ही अभीष्ट अलङ्कार का लक्षण निकलवाया गया है। प्रथम लक्षण देकर उदाहरण में उसे खोजने और भटकने की जटिल परिपाटी का अनुसरण नहीं किया गया।

समस्त आवश्यक बातें विद्यार्थियों की सुविधा के लिये, स्थान स्थान पर कुछ बड़े अक्षरों में दिखलाई गई हैं जिससे विद्यार्थियों को वे याद करने के लिये शीघ्र मिल जाँय। प्रत्येक अलंकार के नीचे उसकी परिभाषा दोहे में भी दे दी गई है, जिससे विद्यार्थी यदि उसे चाहें तो याद कर सकें।

इसमें उदाहरणों की अनावश्यक भरमार नहीं की गई, क्योंकि ऐसा करने से विद्यार्थी बहुत कुछ बहक जाते हैं। केवल छन्द का वही अंश उदाहरण के रूप में व्यक्त करके रक्खा गया है, जिसमें अलङ्कार का लक्षण पूर्ण रूप से घटित या चरितार्थ होता है। एक लक्षण के शुद्ध-रूप को प्रदर्शित करने वाले उदाहरण वास्तव में बहुत ही कम मिलते हैं। अधिक तो ऐसे ही मिलते हैं, जिनमें कई अलङ्कार देखे जाते हैं।

इन्टरमीजियेट के प्रथम वर्ष और सम्मेलन की प्रथमा-परीक्षा के लिए समस्त मूल अलंकार तो अलग और द्वितीय वर्ष तथा मध्यमा के लिए उनके भेदोपभेद टिप्पणी या स्वतंत्र रूप में प्रथक दे दिये गये हैं। अस्तु एक पुस्तक इसी रूप में दोनों वर्षों तथा दोनों परीक्षाओं के लिए एक बार ली जा कर काम दे सकती है। अनुक्रमणिका में दोनों परीक्षाओं के पाठ्य-क्रम को पुष्पाङ्कित करते हुए प्रथक कर दिया गया है।

अभ्यास के लिए स्थान २ पर पर्य्याप्त संख्या में अभ्यास और प्रश्नों के ढंग दिखलाने के लिये यत्र-तत्र कुछ परीक्षोचित प्रश्न-पत्र भी रख दिये गये हैं।

उक्त विशेषताओं के साथ ही इसमें :—

(क) अलङ्कार-शास्त्र का सूक्ष्म इतिहास, (२) अलङ्कारों के मूल-तत्व (३) उनसे सम्बन्ध रखनेवाली मनोवृत्तियां (४) काव्य अथवा साहित्य में उनका स्थान (५) इनका वर्गीकरण एवं अन्य विशेष ज्ञातव्य बातें।

(ख) परस्पर समानता या कुछ ही विभिन्नता रखने वाले या एक ही आधार पर आधारित होने वाले सब अलंकार एक साथ तुलनात्मक विवेचन के साथ रक्खे गये हैं। जिससे विद्यार्थियों को उनके समझने और मिलान करने में सुविधा और सरलता हो। स्पष्टता के लिये और अलंकृत-शैली को दिखाने के लिए कहीं २ उदाहरण गद्य में भी दे दिये गये हैं।

काव्य-मीमांसा

—काव्य—

मानव-जीवन का मुख्य लक्ष्य आनन्द का प्राप्त करना ही है, इसके लिए प्रत्येक मनुष्य सदा ही सब प्रकार के उपाय किया करता है। पूज्य महर्षियों ने आनन्द-प्राप्ति के लिए अनेक विधानों की कल्पना की है और अनेक प्रकार की ललित-कलाओं का आविर्भाव किया है। इनमें से मन को अलौकिक आनन्द देने वाली परम रमणीय काव्य-कला भी एक है। इस कला से न केवल इसके श्रोताओं एवं पाठकों को ही आनन्द प्राप्त होता है वरन् इसके कलाकार कवि को भी अपूर्व सुख प्राप्त होता है। इसीलिए इसे ललित-कलाओं की कक्षा में बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है।

अब यह स्पष्ट ही हो गया होगा कि काव्य-कला ललित-कलाओं में से एक प्रधान-कला है और उसका उद्देश्य अलौकिक आनन्द का अनुभव कराना है। इस कला का सम्बन्ध हृदय (Heart) और मन (मस्तिष्क Mind) दोनों से है। इसका कार्य भाषा के द्वारा हृदय की भावनाओं, मनोवृत्तियों की अनुभूतियों, प्रकृति की रमणीय लीलाओं से उत्पन्न होने वाली विचारावलियों तथा जीवन की सुन्दर भाव-व्यञ्जनाओं को

कला-कौशल-एवं चातुर्य-चमत्कार के साथ स्वाभाविकता, सुन्दरता और स्पष्टता से व्यक्त करना और इस प्रकार अलौकिक आनन्द का अनुभव कराना ही है।

आनन्द देने वाली वही वस्तु होती है जिसमें सौन्दर्य, माधुर्य और मार्दव के साथ ही साथ मनोरञ्जक रमणीयता होती है। चूँकि काव्य का उद्देश्य अलौकिक आनन्दोपार्जन के रूप में होता है इसलिए काव्य में उक्त माधुर्य्य, मार्दव और सौन्दर्य के साथ मनोरञ्जकता और रमणीयता का भी होना अनिवार्य ठहरता है। कहा भी गया है "रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" अर्थात् :—"रमणीयार्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्द-समूह काव्य" है। चूँकि काव्य का सम्बन्ध, जैसा अभी कहा गया है, हृदय और मस्तिष्क दोनों से है इसलिए काव्य में हृदय-तत्व अर्थात् भाव और भावना (Feelings and Emotions) का भी होना आवश्यक है। यह भी स्वाभाविक ही सा है कि मनुष्य पर भावनाओं का प्रभाव बहुत पड़ता है और दुख एवं सुख की अनुभूति भावनाओं पर ही विशेष रूप से समाधारित रहती है, अतएव काव्य में भावनाओं की प्रधानता भी आवश्यक जँचती है और कहा जा सकता है कि रसात्मक अथवा हृदय की मञ्जुल-भावनाओं की अभिव्यक्ति-सूचक पदावली ही काव्य है। इसी आधार पर "वाक्यम् रसात्मकम् काव्यम्" अर्थात्:—"रसात्मक वाक्य काव्य" है ऐसा कहा भी गया है।

यह भी कहा जा चुका है कि भाषा काव्य का कलेवर है क्योंकि उसी के द्वारा काव्य का निर्माण होता है, किन्तु यह विचारणीय है कि जिस भाषा से काव्य की रचना होती है वह क्या बोल-चाल की साधारण भाषा ही है अथवा काव्य की सृष्टिकारिणी भाषा कुछ दूसरी ही होती है। यदि विचार-पूर्वक देखा जाय तो ज्ञात होता है कि काव्य का निर्माण करनेवाली भाषा एक विशेष रूप की होती हुई साधारण भाषा से प्रथक ही सी रहती है। अब यह देखना है कि काव्य-भाषा में साधारण-भाषा की अपेक्षा विशेषता क्या रहती है। काव्य का अध्ययन करने और आचार्य कवियों के मतों के देखने से ज्ञात होता है कि काव्य-भाषा की विशेषता का तत्व वैचित्र्यपूर्ण चमत्कार है और इसी के कारण काव्य की भाषा मनोरञ्जक, रमणीय और सजीव होकर साधारण-भाषा से प्रथक सी हो जाती है। इसीलिये चमत्कृत-वैचित्र्य को काव्य का आधार कहा गया है।

अब निश्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि :—

"काव्य एक वह ललित-कला है जिसमें कला-कौशल-पूर्ण चारु चमत्कृत वैचित्र्य भी सरस, मधुर और मञ्जुल-भाषा के द्वारा मानसिक-भावों एवं भावनाओं का स्वाभाविकता, स्पष्टता और सुन्दरता के साथ जीवानुभूति की व्यञ्जना से पूर्ण ऐसा रमणीय चित्रण किया जाता है

कि उससे हृदय अलौकिक-आनन्द का अनुभव करने लगता है।"

इसी को हम दूसरे रूप में यों कह सकते हैं कि काव्य का प्राण तो मुख्यतया रस है, भाव उसका हृदय, अर्थ-गौरव उसका मस्तिष्क या मन, भाषा उसका कलेवर और अलङ्कार उसको सुसज्जित करके सुन्दर बनाने वाले आभूषण हैं। काव्य की इस मति में अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना नामी तीन शक्तियाँ रहती हैं। माधुर्य्य, प्रसाद, लालित्य, ओज और कान्ति नामक इसके मुख्य गुण हैं। सौन्दर्य्य इसका मोहन स्वरूप है। आनन्द देना इसका स्वभाव है। चमत्कृत वैचित्र्य-पूर्ण पद-रचना की शैली इसकी रीति है।

अस्तु, हम काव्य के इसी रूप का सूक्ष्म किन्तु मार्मिक विवेचन कर काव्य का परिचय देंगे।

अलङ्कार

जिस प्रकार मनुष्य पर स्वरूप-सौन्दर्य्य का प्रभाव सब से पहिले पड़ता है उसी प्रकार काव्य के रूप-सौन्दर्य्य (भाषा के अलंकृत रूप) का भी प्रभाव मनुष्य पर सब से पहिले पड़ता है। यह अवश्य है कि काव्य में सरस भाव की प्राधनता आवश्यक है, किन्तु इसका अनुभव तभी होता है जब कोई भाव को समझता है और अपनी बोध-वृत्ति से काम लेता है। पहिले तो उसे यदि कुछ आकर्षित करता है तो वह

काव्य का रूप-सौन्दर्य्य या अलंकृत भाषा का सौष्ठव ही है। इसी विचार से भाषा के सौन्दर्य्य का काव्य में एक प्रधान स्थान ठहरता है। भाषा को सुन्दर बनाने के लिये अनेक विधानों की कल्पना ठीक उसी प्रकार की गई है जिस प्रकार सौन्दर्य्य-प्रियता नामी प्रवृत्ति की प्रेरणा से उपयोग में आने वाली अन्य वस्तुओं को सुन्दर बनाने के विधानों की हुई है। इन्हीं विधानों को, जिनके द्वारा भाषा में सौन्दर्य्य लाया जाता है, आचार्य्यों ने अलङ्कार की संज्ञा दी है। अस्तु हम कह सकते हैं कि "काव्योचित भाषा को सुन्दर बनानेवाले विधानों को अलङ्कार कहते हैं"।

कोई भी वस्तु हो, यदि उसे उचित रीति से सुसज्जित करके सुन्दर बनाया जाय तो वह रमणीय और मनोरञ्जक हो जाती है, किन्तु यदि अनुचित रीति से अथवा अनेक उचित रीतियों से बिना विवेक-पूर्ण कला-कौशल की सहायता लिए हुए किसी वस्तु को सुसज्जित करके सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया जाय तो वह रुचिकर होने की अपेक्षा अरुचिकर ही हो जाती है। इसी प्रकार यदि भाषा को उचित अलङ्कारों से सजाया जाय तो वह रुचिर, रोचक और रमणीक हो जाती है अन्यथा उसका स्वभाविक सौन्दर्य्य भी विनष्ट हो जाता है। जिस प्रकार आभूषण शरीर-सौन्दर्य्य के लिये साधन मात्र हैं उसी प्रकार भाषा-सौन्दर्य्य के लिये अलङ्कार भी हैं। अलङ्कारों से भाषा वहीं तक सजाई जानी चाहिये जहाँ तक उससे व्यक्त होनेवाले रस, भाव आदि को क्षति न

पहुँचती हो, वरन् उनसे इनका अधिक उत्कर्ष और परिपाक ही होता है। इसी विचार से कहा गया है कि "अलङ्कार शब्दार्थ सम्बन्धी वे स्थिर धर्म हैं जिनसे रसादिकों का उपकार होता है और काव्य की शोभा प्राप्त होती है"।

किसी किसी ने काव्य के सौन्दर्य्य को भी अलङ्कार कहा है और किसी किसी ने इस शब्द की व्याख्या करते हुए अलंकृत करने वाले विधान को ही अलंकार माना है।* इस दृष्टि से अलङ्कार बहिरंग सौन्दर्य्यकारी विधान या वाह्योपकरण ही ठहरते हैं, किन्तु विचार-पूर्वक देखने से यह मत कुछ विशेष उपयुक्त नहीं जान पड़ता। कुछ ऐसे विधान अवश्य हैं जिनसे भाषा के कलेवर को उसी प्रकार सजा सकते हैं जिस प्रकार सुवर्ण आदि से बने हुए रत्न-जटित आभूषणों से शरीर की सजावट कर सकते हैं। इन विधानों को भले ही सौन्दर्य्यकारी वाह्योपकरण या अलङ्कार कह सकते हैं। किन्तु जिन विधानों से भाषा के प्राण रूपी अर्थ को चमत्कृत करते हुए उसे मनोरञ्जक चारुता दी जाती है और उसे उत्कृष्ट बनाते हुए उसकी रसवत्ता को प्रभाव पूर्ण किया जाता है उन विधानों को वाह्योपकरण के रूप में लेना न्याय-संगत नहीं ठहरता, क्योंकि उनका सम्बन्ध सीधे सीधे भाषा और उसी के साथ काव्य की अन्तरात्मा से भी रहता है।

---

* अलंकरोतीति अलंकार:, अलंक्रियतेऽनेनेति, अलंकृतिरलंकार: आचार्य्य वामन्

अब निष्कर्ष रूप में हम अलङ्कारों की परिभाषा देते हुए कह सकते हैं :—

"भाषा रूपी काव्य-कलेवर के शब्द और अर्थ नामक दोनों अङ्गों के उस स्थिर-धर्म (विधान) को अलङ्कार कहते हैं जिससे रस रूपी काव्यात्मा को उत्कर्ष देनेवाले शौर्य्यादि गुणों की सुन्दरता बढ़ती है और भाव को गौरव प्राप्त होता है, साथ ही जिससे भाषा में वैचित्र्य-पूर्ण चमत्कार आ जाता है।"

इसी के आधार पर हम अलङ्कार के विशेष गुणों का विश्लेषण यों कर सकते हैं :—

(१) अलंकार काव्य के रस को गुणोत्कर्ष प्रदान करता है और सौंदर्य्य का साधन है।

(२) इससे शब्द और अर्थ में चमत्कृत वैचित्र्य आता है और उनका उपकार होता है।

(३) अलंकार काव्य के शोभाकारी धर्म हैं।

अब यह स्पष्ट ही हो गया होगा कि मानसिक सरस-भावों को उत्कर्ष के साथ व्यक्त करनेवाली भाषा की उन युक्तियों (शैलियों या रीतियों) को अलंकार कहना चाहिये, जिनसे अनुभूति की व्यञ्जना का उपकार हो और वर्ण्य विषय के रूप, गुण तथा क्रिया आदि के पूर्ण अनुभव करने में सहायता मिले। साधारणतया बात कहने के विचित्र और रमणीय ढङ्ग को भी अलंकार कह सकते हैं किन्तु इस ढङ्ग को ऐसा ही होना

चाहिये जिससे कथनीय वस्तु में रसवत्ता और भाव-गुरुता की विशेष वृद्धि हो जाये और कथन-शैली में मनोरञ्जक चमत्कार भी दिखाई पड़ने लगे।

रस-भावोत्कर्षक रुचिर, चमतकार सुविचित्र।
काव्यहिं सुन्दर करत जो, अलंकार सो मित्र॥

—श्री रसाल

अभ्यास

(१) काव्य की परिभाषा को तुम अपनी भाषा में स्पष्ट लिखो।

(२) काव्य की शरीर-रचना तुम्हारे पाठ में कैसी दिखलाई गई है।

(३) काव्य के शरीर के भिन्न भिन्न अङ्ग बताओ।

(४) काव्य की जितनी परिभाषायें तुमने पढ़ी हों, उन्हें लिखो और उनके सम्बन्ध में अपने विचार भी प्रकट करो।

(५) अलंकारों की तुलना आभूषणों से किस प्रकार कर सकते हो।

(६) अलंकारों की महत्ता जिस प्रकार दिखलाई गई है, उसका उल्लेख करो।

(७) 'अलंकार काव्य की शोभा बढ़ाते हैं' यह यहाँ कैसे सिद्ध किया गया है।

(८) अलंकार की छोटी-बड़ी सभी परिभाषायें लिखो?

(अ) एक मुख्य परिभाषा छाँटकर लिखो?

(ब) अलंकार के जो गुण यहाँ दिये गये हैं, उन्हें बताओ?

———

भाषा और अलङ्कार

मानसिक-भावों को व्यक्त करने के लिये भाषा ही एक प्रमुख साधन है। भाषा और भावों के पूर्वापर सम्बन्ध का निश्चय अद्यापि नहीं हो सका, यह विषय अब तक विवाद-ग्रस्त और अनिश्चित सा ही पड़ा है। कुछ विद्वानों का मत है कि भाव प्रथम आते हैं और भाषा उनके बाद आती हैं, तो कुछ विद्वानों का कहना है कि भाषा भावों के पूर्व आती है। इस जटिलता को दूर करने के लिये कुछ विद्वानों ने दोनों में अन्योन्याश्रय तथा साहचर्य्य सम्बन्ध मान लिया है। कुछ हो, यह तो सभी मानते हैं कि जब हमारी अवस्था में पर्य्याप्त-प्रौढ़ता आ जाती है और हमें भाषा से परिचय प्राप्त हो जाता है, तब हमारे मस्तिष्क में बिना भाषा के भावों का उदय और विकास नहीं होता। ऐसी दशा में भावों की अपेक्षा भाषा को ही अधिक प्रधानता मिल जाती है और हम भाषा के विशेष मुखापेक्षी रहने लगते हैं।

यह भी एक स्पष्ट बात है कि भाव अपने प्रभाव के लिये अपने उपयुक्त सबल और सजीव-भाषा की ही अपेक्षा करते हैं। उसी के द्वारा उनमें मूर्तिमत्ता या साकारता आती है। यदि भाषा की उपेक्षा कर दी जाय तो भावों का सर्वस्व नाश हो सकता है। कवि और काव्य के लिये तो भाषा ही एक मात्र साधन है, कहा भी है:—

"कविहिं अरथ-आखर-बल साँचा"। —गो० तुलसी०

भाव कितने ही सुन्दर और अच्छे क्यों न हों यदि वे उपयुक्त और सशक्त-भाषा में वास्तविकता के साथ समानुवादित नहीं किये गये तो न केवल वे निर्बल ही हो जाते हैं वरन् कभी कभी तो दूसरे ही रूप में प्रगट होने लगते हैं। अस्तु, यह सिद्ध होता है कि भाषा का बहुत बड़ा प्राधान्य है। सुन्दर भाषा के द्वारा साधारण से साधारण भाव भी चमक उठता है और उसमें मनोरञ्जकता तथा मधुरता आ जाती है। इसीलिये भाषा को चमत्कृत बनाने और सजाने की आवश्यकता पड़ा करती है।

यह हम प्रथम ही लिख चुके हैं कि जिन विधानों से भाषा में सौन्दर्य्य, प्रभाव तथा चमत्कार लाये जाते हैं उन्हें साधारणतया हम अलङ्कार कहते हैं। अलङ्कारों से युक्त भाषा में वस्तुतः साधारण भाषा की अपेक्षा कुछ विलक्षण शक्ति और मनोमोहकता आ जाती है, यह किसी से भी छिपा नहीं। हम देखते हैं कि पढ़े और बेपढ़े सभी प्रकार के मनुष्य यथावश्यकता अलंकृत भाषा का उपयोग किया करते हैं, इसलिये यह कहना अत्युक्ति-संगत नहीं कि "अलङ्कार भाषा के स्वाभाविक, सर्वमान्य और व्यापक गुण (धर्म या विधान) हैं"। यदि विचार-पूर्वक देखा जाय तो भाषा और अलंकार दोनों नैसर्गिक सम्बन्ध है और इसीलिये इनका प्राधान्य भी मान्य ठहरता है।

यह लिखा ही जा चुका है कि काव्य के लिए भाषा को चमत्कार-पूर्ण एक विशेष रूप दिया जाता है, जिसके कारण उसमें सुन्दरता और मनोरञ्जकता आ जाती है। इसी विचार से काव्य की भाषा में अलङ्कारों की सत्ता और महत्ता विशेष पाई जाती है। भाषा के गुणों को अलङ्कारों से ही उत्कर्ष प्राप्त होता है, इसीलिये आचार्य्यों ने काव्य में अलंकारों को ही प्रधान माना है* और यह कहा है कि अलङ्कारों के ही कारण काव्य हृदयग्राही होता है।†

यद्यपि कुछ विद्वानों ने अपने रुचि-वैलक्षण्य और मत-पार्थक्य से काव्य में रस आदि की महत्ता मानी है तथापि वे अलङ्कारों की महत्ता को किसी भी प्रकार न्यून नहीं कर सके और इन्हें काव्य-शास्त्र का एक अंग विशेष मानते हुए उसमें उनको उन्होंने बहुत अच्छा स्थान दिया है। कुछ लोग तो केवल अलंकारों को ही काव्य का सब कुछ मानते हैं। हिन्दी-काव्य के क्षेत्र में तो अलंकारों का विस्तृत साम्राज्य है, इनको हिन्दी-साहित्य के कला-काल में बहुत बड़ी वृद्धि प्राप्त हुई है और साहित्य की प्रधान ब्रज भाषा में अलंकारों का प्राचुर्य्य और प्राबल्य पाया जाता है। इधर की ओर खड़ी बोली के साधारण कवियों ने अवश्यमेव अलंकारों के वहिष्कार की आवाज़ उठाई है, किन्तु उनकी भी रचनाओं

---

*"तदेवमलंकारा एव काव्ये प्रधानम् इति प्राच्यानाम् मतम्।

†"काव्यम् ग्राह्यमलङ्कारात"

में अलंकार स्वतः आते हुए मिलते हैं। यह अवश्य कहा जा सकता है कि अलंकारों का उपयोग अलंकारों के ही लिये अच्छा नहीं होता, किन्तु इनकी स्वाभाविक उपयोगिता किसी भी प्रकार अमान्य नहीं हो सकती।

बहुत से अलङ्कार तो ऐसे हैं जिनका प्रयोग नितान्त स्वाभाविक और अनिवार्य ही होता है। किसी बात के समझाने में हम स्वाभावतः ही औपम्य-मूलक या सादृश्य-मूलक विधानों का उपयोग करते हैं। इन्हीं विधानों का उपमा आदि शब्दों से नामकरण करके अलङ्कार-ग्रन्थों में विवेचन किया गया है। कभी कभी वस्तुओं की तुलना करने में हम समता की अपेक्षा विरोध-भाव को ही प्रधान रखते हैं और इस प्रकार विरोध-सूचक विधानों से उनका परिचय देते हैं। इन्हीं विरोध-मूलक विधानों को भिन्न भिन्न नामों से अलंकारों का रूप दिया गया है। किसी चीज़ का वर्णन करते हुए हम स्वभावतः ही समूर्त शब्दों और चित्रोपम-पदों से सहायता लेकर चित्रण किया करते हैं। इसी से चित्रोपम अलङ्कारों का जन्म होता है। इन सब बातों को देखते हुए यह कहना नितान्त-न्याय-संगत है कि अलंकार स्वाभाविक और अनिवार्य्य हैं।

हमारे आचार्य्यों ने भाषा के द्वारा भाव-प्रकाशन के उन सब विधानों एवं ढङ्गों को, जिनके कारण वाग्-वैचित्र्य के साथ ही साथ कथन में चमत्कार और कौशल आता है, और

जिनसे भाषा सुन्दर, रोचक और प्रभाव-पूर्ण हो जाती है; खोजकर शास्त्रीय-पद्धति के अनुसार अलंकारों का रूप देते हुए एकत्रित किया है और उनका यथोचित विवेचन और उदाहरणों के द्वारा स्पष्टीकरण भी किया है। इस प्रकार उन्हों-ने अलंकार-शास्त्र की सुन्दर उत्पत्ति कर दी है, अतः हम कह सकते हैं कि "अलंकार-शास्त्र वह है जिसमें भावों को भाषा के द्वारा प्रकाशित करने के उन सब विधानों का विवेचन और स्पष्टी-करण वैज्ञानिक शैली से किया जाता है, जिन विधानों से भाषा में वैचित्र्य-पूर्ण कला-कौशल और चातुर्य्य-चमत्कार के साथ रोचक सौन्दर्य्य भी आ जाता है और भाषा एक विशेष रूप से सुव्यवस्थित, समाकर्षक और सुसज्जित हो जाती है।" अब यह स्पष्ट ही हो गया होगा कि अलङ्कारों का भाषा से क्या सम्बन्ध है, उनमें व्यापकता और उपयो-गिता कितनी मात्रा में है। साथ ही यह भी ज्ञात हो गया होगा कि अलङ्कारों का वैज्ञानिक-विवेचन करने वाला शास्त्र अलङ्कार-शास्त्र कहलाता है।

अभ्यास

(१) अलङ्कारों की व्यापकता के विषय में यहाँ क्या कहा गया है।

(२) यहाँ अलङ्कारों की उपयोगिता किस प्रकार दिखलाई गई है।

(३) अलङ्कार-शास्त्र की जो परिभाषा यहाँ दी हुई है, उसे अपनी भाषा में समझाकर लिखो।

(४) क्या समझते हो:—

अ—अलङ्कारों के ही कारण काव्य हृदयग्राही होता है।

ब—अलङ्कार भाषा के स्वाभाविक सर्वमान्य और व्यापक गुण हैं।

स—अलङ्कार स्वाभाविक और अनिवार्य्य हैं।

(५) इस पाठ में जो कुछ भी तुमने पढ़ा है उसे अपने शीर्षक देते हुए लिखो।

अलङ्कार और मनोवृत्तियाँ

प्रकृति ने मानव-मन में कई प्रकार की स्वाभाविक वृत्तियों का समावेश-किया है। इन्हीं वृत्तियों के आधार पर सारा मानव-समाज अनेक प्रकार के कार्य्य करता रहता है। इन्हीं वृत्तियों की प्रेरणा तथा इन्हीं की संतुष्टि के लिए उसने अनेक प्रकार की विद्याओं और कलाओं का आविष्कार किया है और इन्हीं वृत्तियों की आज्ञा से मनुष्य भिन्न भिन्न प्रकार की बातों का अन्वेषण, गवेषण और विवेचन आदि करता है। यहाँ हम यह दिखलाने का प्रयत्न करेंगे कि किन मनोवृत्तियों के प्रभाव से काव्य-कला से सम्बन्ध रखने वाले अलङ्कारों की उत्पत्ति हुई है।

स्वभाव ही से मनुष्य कला-कौशल का प्रेमी और सौन्दर्य्यानन्द का उपासक है। इसी प्रवृत्ति की संतुष्टि के लिए मनुष्य ने ललित-कलाओं का आविष्कार किया है। सौन्दर्य्य-प्रियता नामी मनोवृत्ति इन वृत्तियों में सब से प्रधान है। इसी वृत्ति के कारण प्रत्येक वस्तु को सुन्दर बनाने के अनेक विधानों की खोज की गई है। इसी के साथ आत्माभिव्यञ्जन अर्थात् अपने मानसिक-भावों को व्यक्त करने की मनोवृत्ति नित्य और प्रकृति-रचना का अनुकरण करने वाली अनुकरणात्मक-कल्पना तथा वैचित्र्य-प्रियता की मनोवृत्तियां भी अपने अपने कार्य करती हुई चलती रहती हैं। बस इन्ही के कारण काव्य-कला जैसी ललित-कलाओं का उत्पादन हुआ है।

अलङ्कारों को विवेक-दृष्टि से देखने पर यह ज्ञात होता है कि उनकी उत्पत्ति में निम्नांकित मनोवृत्तियों की ही प्रेरणा प्रधान है। इसके पूर्व कि हम अलंकारों को जन्म देने वाली मनोवृत्तियों का यहां उल्लेख करें, हम यह उचित समझते हैं कि हम इन वृत्तियो के श्रेणी-विभाग पर भी कुछ प्रकाश डाल दें। हम कह चुके हैं कि अलङ्कारों का सम्बन्ध न केवल काव्य के बहिरंग सौन्दर्य्य से हो है वरन् उसके अन्तर-सौन्दर्य्य से भी है। कुछ अलङ्कारों के द्वारा यदि काव्य के भाषा रूपी कलेवर की शालिमा बढ़ाई जाती है तो कुछ दूसरे अलङ्कारों के द्वारा काव्य के भाव, भावादि रूपी मार्मिक-

चारुता को उत्कर्ष दिया जाता है और इस प्रकार दो भिन्न विधानों से काव्य को समलंकृत किया जाता है। अब इन्हीं दोनों भिन्न विधानों के आधार पर हम इनसे सम्बन्ध रखने वाली मनोवृत्तियों को भी मुख्यतः दो श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं। हाँ, यह अवश्य है कि कला-कौशल-प्रियता और सौन्दर्य्योपासना की मनोवृत्तियां सब में सन्निष्ट रहेंगी।

वे मनोवृत्तियां जिनकी प्रेरणा से उन अलङ्कारों की उत्पत्ति हुई है जो काव्य के भाषा रूपी कलेवर के सौन्दर्य्य की श्रीवृद्धि करते हैं, मुख्यतया ये हैं:—

(१) प्रयत्न-सौष्ठव-प्रियताः—यह वह मनोवृत्ति है जो हमें शब्दों के संगठन में नाद-यंत्रों के स्वाभाविक-प्रयत्न या संचलन-विधान के आधार पर आदेश देती है। इसी के कारण काव्य में मञ्जुल, सरल और स्निग्ध वर्णों से बनने वाले शब्दों का उपयोग किया जाता है। इसके दो रूप होते हैं:— अ—मार्दव-प्रियताः—इसके अनुसार रसना आदि नाद-यंत्रों को ऐसे वर्णों के बोलने में सुखोमिलता है जिनके उच्चारण करने में उन्हें सरलता, स्वाभाविकता और स्वल्प-प्रयास से कार्य्य करना पड़े। आचार्य्यों ने इसी को देख कर अल्प-प्राण या मृदु और मधुर वर्णों को अलग चुन लिया है और फिर उन वर्णों से कोमल, सरस और सुन्दर शब्दों तथा पदों की रचना करते हुए उपनागरिका एवं कोमला आदि वृत्तियां

और वैदर्भी तथा पाञ्चाली नामी रीतियां (रचना-शैलियां) जिनका वर्णन आगे किया जावेगा, चली हैं।

ब:—पारुष्य-प्रियता:—इसके आधार पर मन को उत्तेजना और उद्दीप्ति मिलती है तथा इसके लिए ऐसे वर्णों का बोलना रुचिकर होता है जिनके उच्चारण में नाद-यंत्रों को कुछ कठिनता और श्रम के साथ प्रयत्न करना पड़ता है। उत्तेजित मन से वायु भी उत्तेजित होकर कुछ विशेषवेग-बल से चलकर नाद-यंत्रों को अधिक प्रताड़ित करती हुई कठिन अथवा परुष-वर्णों को व्यक्त करती है और इसीलिए आचार्य्यों ने महाप्राण अथवा परुष वर्णों तथा उनसे बने हुए शब्दों तथा पदों को प्रथक कर दिया है। ऐसे परुष पदों की मालिका को परुषावृत्ति मूलक पदावली कहते हैं और ऐसी पदावली की रचना-शैली को गौड़ी रीति मानते हैं।

अब स्पष्ट है कि इन्हीं दोनों मनोवृत्तियों के आधार पर उपनागरिका, कोमला और परुषा नामी वृत्तियाँ तथा उनपर आधारित रहने वाले वृत्यनुप्रास, वैदर्भी, पांचाली और गौड़ी आदि रीतियाँ और माधुर्य्य, प्रसाद एवं ओज नामी तीन मुख्य गुणों की कल्पना की गई है। यहाँ पर यह कह देना भी अनुपयुक्त न होगा कि वृत्तियों और रीतियों की रचना में व्याकरण से भी पर्य्याप्त सहायता ली गई है। वृत्ति का सम्बन्ध व्याकरण के समास-विधान से कर के "समासवती वृत्ति" लिखा गया है। पद-रचना की विशेष रीति (शैली) को

रीति की संज्ञा दी गई है और किसी २ आचार्य्य ने इसे ही काव्य की आत्मा माना है।*

(२) पुनरुक्ति-प्रियता :—मन तथा नाद-यंत्रों को किसी वर्ण, शब्द अथवा पद आदि के पुनर्कथन में, चूंकि इसमें सरलता रहती है, विशेष आनन्द मिलता और सुविधा होती है। इसी मनोवृत्ति के आधार पर ऐसे अलँकारों की कल्पना की गई है जिनमें वर्ण, शब्द एवं पद आदि की आवृत्ति का विधान ही प्रधान रहता है। अनुप्रास, यमक, छेक, पुनरुक्ति प्रकाश, वीप्सा और लाट आदि अलंकार इसी पर समाधारित हैं। प्रायः चित्त को इस मनोवृत्ति के दूसरे रूप में उस समय भो आनन्द मिलता है जब एक ही स्थान से उच्चरित होने वाले वर्णों की आवृत्ति की जाती है। कान और नाद-यंत्रों को सुविधा और सरलता इसी से मिलती है। अस्तु, श्रुत्यनुप्रास का जन्म इसी के आधार पर हुआ है।

(३) कौतुक-प्रियता :—इस मनोवृत्ति से मनुष्य कौतुक और कुतूहल में रुचि रखता है। इसी के आधार पर कौतुक-कुतूहल-प्रधान कतिपय कलाओं की कल्पना की गई है। काव्य में चित्र-काव्य सम्बन्धी कला-कौशल इसी मनोवृत्ति की प्रेरणा का फल है।

---

*"विशिष्टा पद-रचना रीतिः"। "रीतिरात्मा काव्यास्य"॥

उक्त मनोवृत्तियाँ तो मुख्यतया काव्य के वाह्य-सौन्दर्य्य की ही सृष्टिकारिणी हैं। वे मुख्य मनोवृत्तियाँ जिनकी संतुष्टि के लिए काव्य के आन्तरिक सौन्दर्य्योत्कर्षक अलङ्कारों की रचना की गई है, ये हैं:—

(४) साम्य-प्रियता :—इससे दो पदार्थों में पारस्परिक साम्य अथवा सादृश्य के देखने, सुनने या खोजने से चित्त को आनन्द मिलता है। वस्तुओं को समझाते हुए व्यक्त करने में यह बहुत कार्य करती है। उपमा, रूपक, भ्रम, सन्देह और स्मरण आदि अलंकार इसी पर समाधारित रहते हैं। इसी मनोवृत्ति की विलोम रूपिणी वह मनोवृत्ति है जिसे वैषम्य या विरोध-प्रियता की संज्ञा दी गई है। इससे दो वस्तुओं में वैषम्य या विरोध के देखने या खोजने आदि में चित्त लगता है। विरोधाभास, प्रतीप आदि अलङ्कार इसी पर समाधारित हैं।

(५) वैचित्र्य-प्रियता :—किसी बात को इस प्रकार घुमा-फिरा कर चातुर्य्य-चमत्कार के लिए क्लिष्टता और जटिलता के साथ रखने और इस प्रकार रक्खी हुई बात को सुलझाने में मन प्रसन्न होता है। वाग्-वैचित्र्य और वर्ण-वैलक्षण्य आदि गुण इसी से उत्पन्न होते हैं। वक्रोक्ति, अन्योक्ति, विभावना आदि अलङ्कार इसी के रूपान्तर हैं। यह मनोवृत्ति उस मनोवृत्ति की विलोम रूपिणी है जिससे मनुष्य को किसी बात को स्वाभाविक, सरल और स्पष्ट रूप से कहने में

आनन्द प्राप्त होता है और जिसे सारल्य-प्रियता की संज्ञा दी गई है। स्वाभावोक्ति आदि अलङ्कार इसी से निकले हैं।

(६) संगोपन-प्रियता :—इससे किसी वस्तु को गुप्त या लुप्त रूप में रखने और इस प्रकार से रक्खी हुई वस्तु के खोजने में चित्त को विनोद प्राप्त होता है। प्रहेलिका, अन्तर्लापिका, वहिर्लापिका, गूढ़ोक्ति आदि अलङ्कारों का उदय इसी से हुआ है।

इन मनोवृत्तियों के अतिरिक्त कुछ और भी ऐसी साधारण मनोवृत्तियाँ हैं, जिनके आधार पर कल्पना-कौशल से कतिपय अलङ्कारों की उत्पत्ति हुई है या जिनसे अलङ्कारों के विकास में सहायता मिली है।

अभ्यास

(१) सिद्ध करो कि अलङ्कारों की रचना मनोवृत्तियों की प्रेरणा से हुई है।

(२) टिप्पणी लिखोः—

अः—वैचित्र्य-प्रियता और उसके अलङ्कार।

बः—कौतुक-प्रियता और उसके अलङ्कार।

सः—सादृश्य-प्रियता और उसका विलोम।

(३) संगोपन-प्रियता से तुम क्या समझते हो, कैसे अलङ्कारों की उत्पत्ति इससे हुई है।

(४) कौन सी ऐसी मनोवृत्ति है जो प्राय: सभी मनोवृत्तियों की मूलाधार है।

(५) प्रयत्न-सौष्ठव से क्या तात्पर्य है, भाषा से इसका क्या सम्बन्ध है।

प्रश्न

(१) साधारण-भाषा और काव्य की भाषा में क्या अन्तर है?

(२) काव्य में अलङ्कारों का क्या स्थान है? सतर्क लिखो?

(३) क्या काव्य में अलङ्कार वस्तुतः आवश्यक है? पक्षापक्ष देते हुए अपना मत प्रगट करो?

(४) सिद्ध करो कि अलङ्कार सर्वथा स्वाभाविक, व्यापक और उपयोगी हैं।

(५) मनोवृत्तियों और अलङ्कारों में क्या सम्बन्ध है?

(६) काव्य की परिभाषा देते हुए अलङ्कार की परिभाषा पर प्रकाश डालो।

(७) व्याख्या लिखोः—(१) वाग्-वैचित्र्य, (२) वर्णन-वैलक्षण्य (३) सारल्य-प्रियता (४) अलङ्कार-शास्त्र।

(८) 'भाषा में अलङ्कारों से सौन्दर्य्य आता है, अथवा अलङ्कार भाषा-सौन्दर्य्य के साधन हैं,' इसकी आलोचना करो।

(९) 'अलङ्कारों का प्रयोग हमारे लिये स्वाभाविक है'—क्यों और कैसे? उदाहरण के साथ लिखो।

अलङ्कार-शास्त्र और अन्य विषय

जिस प्रकार हमने अभी अलङ्कारों का सम्बन्ध मनोवृत्तियों से दिखलाया है, उसी प्रकार हम यहाँ यह भी संक्षेप रूप में दिखला देना चाहते हैं कि अलङ्कार-शास्त्र का सम्बन्ध व्याकरण, न्याय (तर्क) विज्ञान तथा मनोविज्ञान आदि से भी है, और इनके साधारण-सिद्धान्तों की सहायता अलङ्कारों की कल्पना और उनकी विकसित-रचना में ली गई है।

चूँकि अलंकारों का भाषा से अनवच्छिन्न सम्बन्ध है और चूँकि भाषा का व्याकरण से अनिवार्य्य सम्बन्ध है इसलिये अलंकार-शास्त्र बिना व्याकरण के चल नहीं सकता। यदि हम इस विचार से अलंकारों को देखते हैं तो हमें यथासंख्य, भाविक, परिकर और परिकरांकुर आदि ऐसे अलंकार मिलते हैं जो व्याकरण के भिन्न भिन्न मूल सिद्धांतों पर समाधारित हैं। संस्कृत में तो उपमादि अलंकारों के कतिपय भेदोपभेद व्याकरण के नियमों से ही नियंत्रित रक्खे गये हैं।

न्याय अथवा तर्क-शास्त्र के कुछ मूल-सिद्धान्तों से सहायता ले कर काव्यार्थापत्ति, पर्य्याय (वाक्य-न्याय मूलक), काव्यलिङ्ग, प्रौढ़ोक्ति, प्रतिषेध (तर्क-न्याय) तद्गुण, सामान्य, लोकोक्ति, देहरी दीपकादि (लोक-न्याय) अलङ्कारों की रचना की गई है।

विज्ञान विषयक कार्य-कारण सम्बन्ध के आधार पर असंगति, हेतु आदि अलंकारों की कल्पना हुई है। इसी प्रकार सन्देह, भ्रम, स्मरण और उत्प्रेक्षा आदि अलंकार मनोविज्ञान के आधार पर निर्मित किये गये हैं। क्रिया-चातुरी से सम्बन्ध रखने वाले पिहित आदि हैं, युक्ति आदि अलंकार नाट्य-शास्त्र से सम्बन्ध रखते हुए जान पड़ते हैं और कला-मूलक ठहरते हैं।

सूक्ष्म रूप से हम कह सकते हैं कि अलंकारों तथा उनके भेदोपभेदों की रचना में कई शास्त्रों या विषयों के सिद्धान्तों से सहायता ली गई है। वैशेषिक-दर्शन के प्रत्यक्षानुमानादि प्रमाणों को अलंकारों का रूप दे दिया गया है। अब इस विषय पर हम विशेष न कह कर इन्हीं बातों के आधार पर अलङ्कारों के मूल-तत्त्वों का भी संक्षेप में विवेचन कर के एक स्वतंत्र-वर्गीकरण का विधान रखते हैं।

अभ्यास

(१) उन अलंकारों के नाम लिखो जिनका सम्बन्ध व्याकरण से है।

(२) लोकोक्ति आदि अलङ्कार किस प्रकार के न्याय पर आधारित हैं।

(३) व्याकरण से अलङ्कारों का सम्बन्ध क्यों अनिवार्य्य सा ठहरता है।



अलङ्कारों के मूलाधार

अलङ्कारों के मूलाधार अथवा उनके मूल तत्व से हमारा तात्पर्य्य उन सिद्धान्तों से है जिन्हें लेकर भिन्न भिन्न रूपान्तरों के साथ अलङ्कारों का विकास किया गया है। पहिले हम उन मनोवृत्तियों का संक्षिप्त विवरण दे चुके हैं, जिनकी प्रेरणा से काव्य-कला-कशौल-सम्बन्धी अलङ्कारों की उत्पत्ति हुई है। वस्तुतः यही मनोवृत्तियाँ प्रधान हैं किन्तु यहाँ हम इन मनोवृत्तियों के आधार पर कल्पित किये जाने वाले उन मूल-सिद्धान्तों की सूक्ष्म-विवेचना करते हैं जिन पर हमारे अलङ्कार समाधारित हैं।

अलङ्कारों का विवेचन करने वाले आचार्य्यों में से श्री० रुद्रट ही सब से प्रथम ऐसे आचार्य्य माने जाते हैं जिन्हों ने वैज्ञानिक-रीति से अलङ्कारों के मूल-तत्वों का बड़ी मौलिकता से गवेषणा और आलोचना की है। साथ ही इन्हीं तत्वों के आधार पर अलङ्कारों का अपना एक स्वतन्त्र और वैज्ञानिक वर्गीकरण किया है। इनके पूर्व अन्य आचार्य्यों ने अलङ्कारों का श्रेणी-विभाग, शब्द और अर्थ पर, जिन्हें सब से प्राचीन आचार्य्य भामा ने साहित्य के अंग माना था 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' आधारित करके किया था।

श्री रुद्रट ने इस श्रेणी-विभाग को उपयुक्त न समझ कर अपना एक स्वतंत्र-विधान निकाला। ध्यान रखना चाहिए कि रुद्रट ने शब्दालंकारों के ही मूल आधार को छोड़ दिया है

और केवल अर्थालङ्कारों के मूल-तत्वों का विधान रचा है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि उनके समय में शब्दालङ्कारों की अपेक्षा अर्थालंकारों को ही विशेष प्राधान्य एवं महत्व मिला था।

श्री रुद्रट ने चार मूल-तत्व देकर उन्हीं के आधार पर अर्थालङ्कारों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है :—

(१) वास्तव :—अथवा स्वाभाविकता-प्रधान अलंकार यथा :—सहोक्ति, स्वाभावोक्ति (जाति) समुच्चय, यथा-संख्य (क्रम) पर्य्याय, भाव (जिसे अन्य आचार्य्यों ने उत्तर काल में छोड़ दिया है) विषम, अनुमान, दीपक, परिकर, परिसंख्या, परिवृत्ति, व्यतिरेक, अन्योन्य, कारण-माला, हेतु, अवसर (इसे भी छोड़ दिया गया है) उत्तर, सार, सूक्ष्म, लेश, एकावली और मीलित।

(२) औपम्य :—तुलनात्मक मूलक साम्य या सादृश्य-सम्बन्धी अलङ्कार यथा :—उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अपन्हुति, सन्देह (संशय) माला (मत, इसे भी छोड़ दिया गया है) अर्थान्तरन्यास, भ्रान्तिमत (भ्रान्ति या भ्रम) प्रत्यनीक, आक्षेप दृष्टान्त, उदाहरण (रुद्रट ने इसे नहीं रक्खा, कदाचित उनके समय में इसकी कल्पना न हुई थी) समुच्चय, साम्य (सम) स्मरण और सहोक्ति।

नोट :—जिस प्रकार साम्य के आधार पर तुलना की जाती है उसी प्रकार वैषम्य या विरोध के आधार पर भी की जा सकती है,

किन्तु रुद्रट ने इसे नहीं रक्खा। यदि इसे रक्खें तो इसके अन्दर विरोध, विरोधाभास इत्यादि अलङ्कार आ जाँयगे।

(३) **अतिशय :—** मर्य्यादा की सीमा से आगे बढ़कर कथन करना। इस पर समाधारित होते हैं :—पूर्व, विशेष, विभावना, अधिक, उत्प्रेक्षा, तद्‌गुण, विषम, पिहित, असंगति वक्रोक्ति, हेतु, व्याघात।

नोट :—अतिशयोक्ति और अत्युक्ति आदि अलंकार यहाँ छोड़ दिये गये हैं, कदाचित रुद्रट के समय में ये अलंकार न थे।

(४) **श्लिष्ट :—**शब्दों की अनेकार्थ-मूलक-शक्ति के आधार पर अविशेष, अधिक, विरोध, व्याज (व्याजोक्ति) वक्र, उक्ति (युक्ति), अवयव (यह छोड़ दिया गया है) तत्व (यह भी नहीं लिया गया), असम्भव, और विरोधाभास लिये गये हैं।

नोट :—श्लेष दो रूपों में दिखलाया गया है, एक शुद्ध श्लेष और दूसरा संकीर्ण। उक्त अलंकार शुद्ध श्लेष मूलक हैं। रुद्रट के कुछ अलंकार तो उत्तरवर्ती आचार्य्यों ने छोड़ दिये हैं और कुछ को नामान्तर से रक्खा है। उक्त सूची में जो अलङ्कार दो दो कक्षाओं में आये हैं, उनमें दोनों तत्व सन्निहित जानने चाहिये।

इस वर्गीकरण के साथ रुद्रट ने अपने पूर्ववर्ती आचार्य्यों के समान शब्दालंकार भी प्रथक रक्खे हैं।

उद्भट ने भी अपने एक नवीन वर्गीकरण का विधान बनाया है, किन्तु उसके आधारभूत सिद्धान्त नहीं लिखे। वामन ने औपम्य या सादृश्य को ही एक मुख्य मूल-तत्व मानकर सभी

अलंकारों को उसी पर आधारित किया है और सब को उपमा का ही प्रपंच कहा है। दंडों के अनुसार स्वभावोक्ति (वास्तव) ही एक मुख्य मूल-तत्व है, किन्तु आचार्य्यों ने इस मत का पूरा खंडन किया है और कहा है कि चूंकि इसमें चमत्कार-चातुर्य्य-पूर्ण वैचित्र्य अथवा वक्रोक्ति का मनोरंजक कौशल, जो अलंकारों के लिए अनिवार्य्य है, नहीं रहता, इसी लिये इसे मूल-तत्व मानना ठीक नहीं।

नोट:—कदाचित दंडी ही चित्रालंकारों को उठाने वाले सब से प्रथम आचार्य्य हैं। दंडी भी अतिशय को प्रधानता देते दिखाई पड़ते हैं।

कुन्तल ने वक्रोक्ति को ही अलंकारों की आत्मा माना है और उसी पर पूर्ण बल दिया है। वे अतिशय को भी एक मूल-तत्व मानते हुए जान पड़ते हैं। अभिनव गुप्त भी अतिशय ही को मुख्य मूल-तत्व मानते हैं। प्रसादादि गुणों को प्रधानता देते हुए मम्मट ने भी वक्रोक्ति को अलंकारों का प्रधान-तत्व स्वीकार किया है। रुय्यक ने सात तत्व दिखलाये हैं :—(१) औपम्य, (२) विरोध, (३) शृंखला, (४) न्याय (५) गूढ़ार्थ प्रतीति, (६) संसृष्टि और (७) संकर।

नोट:—कदाचित रुय्यक ने ही सब से प्रथमअ लंकार-शास्त्र में संकर और संसृष्टि का समावेश किया है। इनके पूर्वकाल में उनका पता स्पष्ट रूप से नहीं चलता। किन्तु इनके पश्चात प्रायः सभी आचार्य्यों ने इनकी गणना अलङ्कारों में की है। वैद्यनाथ ने रुद्रट के

उक्त चारों तत्वों को लेकर (किन्तु औपम्य के स्थान पर साधारण का प्रयोग करते हुये) अध्यवसाय और विशेषण-वैचित्र्य नामी दो तत्व और बढ़ा दिये हैं।

हिन्दी के आचार्य्यों में से मतिराम ने चमत्कार को अलंकारों का प्राण तो माना है किन्तु अलंकारों के मूल-तत्व नहीं दिये। भूषण ने वामन के समान कदाचित औपम्य (उपमा) को ही प्रधानता दी हैं और अन्य अलंकारों को उन्हीं का रूपान्तर कहा है। सुब्रह्मण्य शर्मा ने उक्त आचार्य्यों के मतों को लेते हुए अपना विचार यों प्रगट किया है कि अलंकारों के मूल आधार १—औपम्य (३४ अलंकार) २—विरोध (१० अलंकार) ३—कार्य कारण (११ अलंकार) ४—न्याय (वाक्य, तर्क और लोक-न्याय, २६ अलंकार) ५—अपन्हव (११ अलंकार) ६—श्रृङ्खला (४ अलङ्कार) ७—विशेषण-वैचित्र्य (२ अलङ्कार) ८—कवि-समय (१ अलङ्कार) हैं।

ध्यान देने की बात है कि प्रायः सभी आचार्य्यों ने केवल अर्थालङ्कारों के ही मूल-तत्वों की खोज की है और शब्दालङ्कारों के तत्वों की नहीं। हमारी समझ में शब्दालङ्कार, जैसा श्री "रसाल" जी ने अपने 'अलङ्कार-पीयूप' में दिखलाया है, आवृत्ति पर ही समाधारित रहते हैं। इसलिये आवृत्ति को ही इनका मूल-तत्व समझना चाहिये। शब्दालङ्कारों में केवल वे ही अलङ्कार लिए जा सकते हैं जिनमें शाब्दिक-चमत्कार का ही पूर्ण प्राधान्य रहता है। इस

प्रकार अनुप्रास, यमक, पुनरुक्ति-प्रकाश एवं वीप्सा ही लिए जा सकते हैं। वक्रोक्ति और श्लेष, जिनका चमत्कृत अर्थ से भी सम्बन्ध है, शब्दालङ्कारों में न आकर अर्थालङ्कारों में ही वास्तव में रक्खे जा सकते हैं।

शब्दालङ्कारों की आत्मारूपी आवृत्ति के तीन मुख्यरूप होते हैं :—(१) वर्णावृत्ति :—जिसमें वर्णों की ही आवृत्ति प्रधान रहती है।

(२) शब्दावृत्ति :—जिसमें शब्दों की ही आवृत्ति प्रधान रहती है।

(३) पद या वाक्य-आवृत्ति :—जिसमें एक वाक्य या वाक्यांश की आवृत्ति होती है।

इसी के साथ यदि हम विचार-पूर्वक अलङ्कारों पर दृष्टि-पात करें तो ज्ञात होता है कि बहुत से अलङ्कार ऐसे हैं जो अन्य अलङ्कारों के विलोम रूप हैं। ऐसे अलङ्कारों का मूलाधार हम विलोम को ही मान सकते हैं। प्रतीप और परिकरांकुर आदि इसी के अंदर आ सकते हैं।

अभ्यास

(१) अलङ्कारों का श्रेणी-विभाग कौन सा है जो परम-प्रचलित है।

(२) रुद्रट के दिये हुए मूल-तत्वों का संक्षिप्त उल्लेख करो।

(३) याद करो :—

अ :—शर्मा के दिये हुए मूल-तत्व।

ब :—शब्दालंकारों का मूल-तत्व और उसके रूप।

(४) मूल-तत्वों के विषय में किन भिन्न मतों का उल्लेख इस पाठ में किया गया है। अपने ढंग से तुम उन पर एक संक्षिप्त टिप्पणी दो।

(५) मतिराम और भूषण ने अलंकारों के आधार के विषय में किन बातों को प्रधानता दी है, आलोचनात्मक-ढंग से लिखो।

(६) विलोम के आधार पर कैसे अलंकारों की उत्पत्ति हुई है, और तुम्हारा मत इस सम्बन्ध में क्या है।

अलंकारों का श्रेणी-विभाग (वर्गीकरण)

काव्य में दो ही अंग विशेष प्रधान होते हैं। प्रथम वह जिसे हम काव्य-वस्तु या वर्ण्य-विषय कहते हैं अर्थात् वह विषय जिसका वर्णन किया जाय। दूसरा वह जिसे हम विषय-वर्णन अथवा काव्य-वस्तु कथन कह सकते हैं। काव्य का सौन्दर्य्य दोनों से सम्बन्ध रखता है। कवि के लिये यह आवश्यक है कि वह काव्य-रचना के लिए एक ऐसा सुन्दर, उपयुक्त और रोचक विषय चुने जिसमें स्वतः ही सरलता, सुन्दरता और मनोरञ्जकता हो, सुन्दर विषय का ही वर्णन सुन्दर हो सकता है। इसके पश्चात कवि को उस रोचक-विषय का वर्णन सुन्दर, सरस और स्पष्ट-भाषा में वास्तविकता, कौशल और चमत्कार के साथ करना चाहिये। भाषा उसकी जब तक सजीव, समूर्त और सुन्दर न होगी तब तक उसका वर्णन समाकर्षक नहीं हो सकता। किसी

भी अच्छी वस्तु या अच्छे भाव का प्रकाशन यदि विषयोचित सुन्दर भाषा में चमत्कृत शैली से नहीं किया जाता तो वस्तु या विषय की सुन्दरता मारी जाती है, अस्तु।

जिन आचार्य्यों ने सौंदर्य्य को ही अलंकार माना है उनके मतानुसार अलंकार अपने व्यापकार्थ में काव्य की शोभा को उत्कर्ष देनेवाला प्रत्येक प्रकार का साधन हो सकता है। इस परिभाषा की विस्तृत सीमा के अन्दर रस, ध्वनि, भाव और गुण आदि भी आ जाते हैं। साथ ही कवियों के द्वारा निश्चत की गई वर्ण्य वस्तुओं तथा उनके रोचक रूपों की परम्परा भी ली जाती है। किन्तु जिन आचार्य्यों ने अलंकार को काव्य-कलेवर के सौंदर्य्य का साधन माना है और उन्हें केवल आभूषणों के ही समान स्थान देते हुए शब्द और अर्थ सम्बन्धी चमत्कृत कौशल के ही रूप में रक्खा है उनके मतानुसार अलंकार अपने इस संकीर्णार्थ में वर्णनोचित भाषा के चमत्कृत रूप ही ठहरते हैं।

अब यदि इन दोनों मतों को ले लें तो अलंकारों की दो श्रेणियाँ बन जाँयगी। प्रथम में तो काव्य-वस्तु या वर्ण्य-विषय सम्बन्धी अलंकार आवेंगे और दूसरी में शब्द तथा अर्थ सम्बन्धी वे सब अलंकार आवेंगे जिनसे भाषा में सौंदर्य्य आता है। आचार्य्य केशवदास ने अलंकारों की इन दोनों श्रेणियों का उल्लेख किया है और प्रथम को सामान्य की संज्ञा देते हुए उसमें कवि-परिपाटी के चमत्कृत-विधान

और वर्ण्य-विषयों के सौंदर्य्य प्रकाशक रूप रक्खे हैं। दूसरी श्रेणी को विशिष्ट की संज्ञा देते हुए उन्होंने शब्दालंकार और अर्थालंकार बिना विश्लेषण के साथ ही रख दिये हैं।

साधारण रूप से अलंकारों को दो मुख्य वर्गों में बाँटा गया है। एक वर्ग में तो शब्द-चमत्कार सम्बन्धी और दूसरे में अर्थ-चमत्कार सम्बन्धी अलंकार रक्खे गये हैं। यह वर्गीकरण आचार्य्य भामा के समय से आज तक समय-सम्मानित प्रतिष्ठा के साथ सर्वमान्य होता हुआ चला आया है। रुद्रट ने भी यद्यपि इसे माना है तथापि अर्थालंकारों का अपना विशेष वर्गीकरण मूल-तत्वों के अधार पर स्वतंत्र रूप से किया है। सब से प्रथम हमें अलंकारों का एक तीसरा वर्ग जिसके अन्दर ऐसे अलंकार रक्खे गये हैं, जिनमें शब्दात्मक और अर्थात्मक दोनों प्रकार का चमत्कार पाया जाता है, उभयालंकार के नाम से अग्नि पुराण में ही मिलाता है। भोजराज ने ही इसे स्वीकार करके प्रचलित किया है। अस्तु "शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभया लंकार नामी तीन मुख्य वर्ग अलंकारों के सर्वमान्य हैं"। प्रत्येक अलंकार-शास्त्र के ग्रन्थ में प्रायः ये ही तीन वर्ग प्रथक प्रथक रक्खे जाते हैं।

रुय्यक ने रस और भाव सम्बन्धी अलंकारों की दो और कक्षाएँ रक्खी हैं किन्तु उभयालकार की श्रेणी छोड़ दी है। मम्मट ने चित्रालंकारों का एक प्रथक वर्ग बनाया है

और शब्द-चित्र तथा अर्थ-चित्र के आधार पर उसकी दो उपकक्षाएँ कर दी हैं। चित्रालंकारों की कल्पना कदाचित दण्डिन् ने ही की थी। उत्तरकालीन आचार्य्यों ने केवल अर्थालंकारों को ही प्रधानता दी है और उन्हीं की विशद-विवेचना भी की है। मतिराम आदि (हिन्दी-आचार्य्यों) ने इन आचार्य्यों में से सर्व प्रधान जयदेव और अप्पय जी का ही अनुकरण किया है। भिखारीदास ने अलंकारों को कई वर्गों में विभक्त तो अवश्य किया है किन्तु अपने वर्गीकरण को स्पष्ट रूप में नहीं दिखाया। उनके काव्य-निर्णय से यह अवश्य ज्ञात होता है कि उन्होंने सर्वमान्य वर्गीकरण को ही प्रधानता दी है। यह अवश्य है कि उन्होंने रस, भाव, ध्वनि, व्यंग, न्याय एवं प्रमाण आदि से सम्बन्ध रखने वाले अलंकारों को भी प्रथक प्रथक वर्गों में रक्खा है।

नोट :—श्री भोजराज ने ही कदाचित सब से प्रथम दर्शन शास्त्र सम्बन्धी प्रत्यक्ष, अनुमानोपमानादि ६ प्रमाणों को अलङ्कारों में रूपान्तरित करके प्रचलित किया है।

श्री 'रसाल' जी ने अपना वर्गीकरण निम्नांकित रूप में रक्खा है :—

१. शब्दालंकार :—

अ— वर्णावृत्तिमूलक :—

१—अनुप्रसास (छेक, वृत्ति, अन्त्य, तुक, यमक)

नोट—अनुप्रासों को दो कक्षाओं में ले सकते हैं :—१—सामान्य या शब्दात्मक—छेकादि, २—विशिष्ट—गुण-रीति सम्बन्धी—वृत्य० ।

ब— शब्दावृत्तिमूलक :—

१—एकार्थ सम्बन्धी— वीप्सा, कुंडल, सिंहावलोकन

२—भिन्नार्थ सम्बन्धी— पुनरुक्तवदाभास, पुनरुक्त-प्रकाश, यमक

स—पदावृत्तिमूलक :—लाट, पदावृत्ति-वीप्सा आदि

२. अर्थालंकार :—

१—सामान्य—वह वर्ग जिसके अलङ्कार सामान्य होते हैं।

२—विशेष—स्फुट सिद्धान्तमूलक

३. उभयालंकार :—संकर, संसृष्टि

४. मिश्रालंकार :—दो अर्थालङ्कारों को मिलाकर बनाये गये नवीन अलङ्कार ।*

५. रस, भाव, ध्वनि और प्रमाण सम्बन्धी अलङ्कार-वर्ग

*नोट—कुछ आचार्यों ने यह पद्धति चलाई थी और अपन्हव आदि अलङ्कारों की नवीन कल्पना भी की थी, किन्तु फिर यह प्रणाली अप्रचलित हो गई । देखो "अलङ्कार पीयूष" पूर्वार्ध

नोट—हम यहाँ ४ वर्गों के ही अलङ्कारों का विवेचन करते हैं, ५वां वर्ग छोड़ देते हैं, क्योंकि यह रस, भाव, ध्वनि आदि से सम्बन्ध रखता है, जिनके सिद्धान्त काव्य-शास्त्र में हमारे विद्यार्थी आगे पढ़ेंगे । उस समय वे "अलङ्कार पीयूष" देख सकते हैं।

अभ्यास

१. अलंकारों का सर्वमान्य वर्गीकरण कौन है ?

२. वर्गीकरण के सम्बन्ध में हिन्दी के आचार्यों के भिन्न २ मत लिखो ?

३. संस्कृत के किन आचर्यों ने वर्गीकरण पर स्वतंत्र मत प्रगट किये हैं ?

४. काव्य के दो मुख्य भागों के आधार पर कैसा वर्गीकरण किसने किया है ?

५. अलंकार का व्यापकार्थ स्पष्ट रूप से समझाओ ?

६. अलंकार का संकीर्णार्थ लिखते हुये अलंकारों का सर्वमान्य वर्गीकरण दो ?

प्रश्न

(१) अलङ्कार-शास्त्र का सम्बन्ध किन किन विषयों से और किस प्रकार है—संक्षेप में लिखो ?

(२) उन अलङ्कारों के नाम लिखो जिनका सम्बन्ध लोक-न्याय से है, और बतलाओ कि इसका कारण क्या है ?

(३) अलङ्कारों के मूल तत्वों से तुम क्या समझते हो ?

अः—रुद्रट ने किस प्रकार के अलङ्कारों के कितने मूल तत्व दिये हैं, समझा कर लिखो।

बः—औपम्य मूलक अलङ्कार कौन से और क्यों हैं ?

(४) सिद्ध करो कि विरोध या वैषम्य के आधार पर भी अलङ्कारों का एक वर्ग बनाया जा सकता है।

(५) रुद्रट के पश्चात् संस्कृत के और किन आचार्यों ने अपने अपने मतानुसार कौन कौन मूल तत्व दिखलाये हैं ?

(६) अलङ्कार-पीयूष में शब्दालंकारों का क्या मूल-तत्व माना गया है और उसके कितने रूप दिखलाये गये हैं।

(७) अलङ्कार शब्द किन दो अर्थों में प्रयुक्त किया गया है, स्पष्ट रूप में लिखो।

(८) अलङ्कारों के वर्गीकरण का साधारण-विधान बताओ।

प्रश्न-पत्र नं० १

(१) केशव ने अलंकारों का वर्गीकरण किस प्रकार किया है ? उनके भाव को स्पष्ट रूप में लिखो।

(२) हिन्दी के वे कौन से आचार्य्य हैं जिन्होंने अलंकारों के स्वतंत्र वर्ग तो बनाये हैं किन्तु कोई सिद्धान्त नहीं निश्चित किया।

(३) हिन्दी-आचार्य्यों के अनुसार अलंकारों के मूल-तत्वों पर प्रकाश डालो।

(४) सिद्ध करो कि स्वभावोक्ति को तो मूल तत्व और उससे सम्बन्ध रखने वाले अलंकारों को अलंकार न कहना चाहिये।

(५) क्या वक्रोक्ति को ही अलंकारों का प्रधान तत्व कह सकते हैं—यदि हाँ तो क्यों ? सतर्क लिखो।

(६) 'काव्य की भाषा का प्राण वैचित्र्य ही हैं, इसी वैचित्र्य को वक्रोक्ति कहते हैं'—आलोचनात्मक ढंग से इसकी विवेचना करो।

(७) अपने विचार सतर्क रूप में प्रगट करो :—

अ:—काव्य में भाषा-चमत्कार और शब्द-कौशल ही प्रधान है।

ब:—भाषा में चाहे सौन्दर्य्य न हो किन्तु यदि भाव सुन्दर है तो काव्य सत्काव्य कहलाने योग्य है।

स:—काव्य में अलंकार हो प्रधान हैं।

(८) उन प्रधान मनोवृत्तियों की सोदाहरण विवेचना करो जिनका अलंकारों की रचना में विशेष भाग है।

(९) अलंकारों की मुख्य २ परिभाषायें देते हुए अपनी एक स्वतंत्र परिभाषा लिखो।

(१०) सूक्ष्म टिप्पणियाँ दो :—

अ:—काव्य, अलंकारोपयोगिता, अलंकारों की सर्वमान्य व्यापकता और काव्य में उनका स्थान।

(११) काव्य की कौन सी परिभाषा तुम सर्वथोचित समझते हो और क्यों! स्पष्ट लिखो।

अलङ्कार शास्त्र का क्रमिक-विकास

हमारे भारतवर्ष का सब से प्राचीन ग्रंथ पूज्य ऋग्वेद है, इसे सब विद्वानों ने स्वीकार किया है। इस पवित्र ग्रंथ-रत्न में भी हमें, यदि हम बिचार-पूर्वक देखते हैं, उपमा, व्यतिरेक, सार आदि कतिपय अलंकार अपने प्रौढ़ रूप में प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार ब्राह्मण एवं उपनिषदादि ग्रंथ-रत्नों में भी अलंकारों का उपयोग देखा जाता है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या वैदिक काल में भी अलंकार-शास्त्र विद्यमान था, या स्वाभावतः ही उनका उपयोग (अलंकारों का) किया जाता था और केवल काव्य ही उस समय-उपस्थित था। इस प्रश्न की जटिलता और भी बढ़ जाती है जब इस बात पर भी ध्यान रक्खा जाता है कि वेद ही सब से प्रथम प्रगट होने वाले ग्रंथ-रत्न हैं। इनसे प्रथम और कोई भी ग्रंथ प्रगट न हुआ था। अस्तु, समस्या यों हो जाती है कि काव्य और काव्य-शास्त्र (अलंकार-शास्त्र) दोनों एक ही समय साथ ही साथ प्रगट हुए अथवा इनके प्रगट होने में किसी प्रकार का पूर्वापरक्रम है, अर्थात् प्रथम काव्य की उत्पत्ति हुई और उसी के आधार पर उसके सद्‌गुणों एवं संलक्षणों आदि की विवेचना की गई और इस प्रकार काव्य-शास्त्र की रचना हुई, अथवा पहिले काव्य-शास्त्र की रचना हुई और फिर उसके नियमों के आधार पर कवियों ने काव्य की रचना की। विषय अत्यन्त विवाद-ग्रस्त एवं संदिग्ध है।

"कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः" ब्रह्म-कृत वेद महा-काव्य यदि सब से प्रथम ग्रंथ-रत्न है तो मानना पड़ेगा कि काव्य की उत्पत्ति प्रथम और काव्य-शास्त्र की पश्चात् में हुई है। ऐसी अवस्था में वैज्ञानिक या ऐतिहासिक खोज का स्थान ही नहीं रह जाता है।

इस जटिल-समस्या को छोड़ कर यदि हम वैज्ञानिक शैली से ऐतिहासिक खोज करते हैं तो हमें कुछ दूसरी ही बात मिलती है। इस सम्बन्ध में हमें प्रथम जन-श्रुतियों को लेना पड़ता है। राजशेखर ने अपने काव्यशास्त्र-सम्बन्धी ग्रंथ में काव्य-पुरुषोत्पत्ति की एक कथा दी है* उसके अनुसार काव्य-पुरुष का सम्पर्क श्री वाल्मीकि जी से हुआ और इन्हीं के द्वारा सब से प्रथम काव्य-साहित्य का प्रकाश इस पृथ्वी पर हुआ। काव्य-पुरुष और साहित्य-विद्या के संयोग से फिर काव्य-साहित्य का विकास-प्रकाश हुआ और आगे चल कर देवताओं तथा महर्षियों से अलंकारों की रचना हुई।

नोट:—राजशेखर के अनुसार अलङ्कारों की उत्पत्तिः—

अलंकार			कर्ता
१:—अनुप्रास	...	...	प्रचेतायन
२:—यमक	...	...	चित्रांगद
३:—चित्र	...	...	शेष भगवान्

*देखो अलङ्कार-पीयूष का पूर्वार्ध

४:—शब्द-श्लेष	...	...	पुलस्त ऋषि
५:—वास्तव	...	...	औपकायन
६:—अतिशय	...	...	पाराशर
७:—अर्थ-श्लेष	...	...	उतथ्य
८:—उपमा	...	...	कुबेर

यह कथा ऐसी है कि इस वैज्ञानिक-युग में मान्य नहीं ठहरती, अस्तु हम अब दूसरी दृष्टि से अपने विषय की खोज करते हैं, किन्तु, पहिले यह और कह देना चाहते हैं कि यदि महर्षि वाल्मीकि और उनके काव्य को सर्व प्रथम कवि और काव्य मान लिया जाय—जैसा माना भी गया है—तो यही कहना पड़ता है कि प्रथम काव्य का जन्म हुआ है और फिर उसके आधार पर काव्य-शास्त्र का अर्थात् काव्य-कला और काव्य-शास्त्र में पूर्वापर सम्बन्ध है। किन्तु इससे भी कोई निश्चित बात नहीं निकलती। यह अवश्य ज्ञात होता है कि वेदों के काल से रामायण के काल तक काव्य और काव्य-शास्त्र दोनों का विकास होता चला आया है। इनमें से कौन प्रथम हुआ और कौन पश्चात यह उसी प्रकार अनिश्चित है जिस प्रकार कला और शास्त्र का पूर्वापर सम्बन्ध।

कुछ भी हो, यह स्वीकार ही करना पड़ता है कि अलंकारों का उपयोग कदाचित् भाषा की उत्पत्ति के थोड़े ही समय के पश्चात से हो चला है और इसीलिए वेद-उपनिषद आदि प्राचीनातिप्राचीन ग्रंथों की भाषा में भी हमें अलंकार-युक्त

पदावली मिलती है। हम यह मान सकते हैं, जैसा कुछ विद्वानों का मत भी है,—कि प्रथम कवियों के द्वारा सुन्दर काव्य की रचना की गई और वे अपने भावों, कल्पनाओं और भावनाओं आदि को सौन्दर्य्य, वैचित्र्य तथा रम्य रूप से व्यक्त करते हुए काव्य-भंडार भरते गये। उनके उन सब विधानों को, जिनसे उनके सत्काव्य में सुन्दरता, सरसता और रोचकता आई है, अलग करके आचार्य्यों ने काव्य-शास्त्र की रचना कर दी। इसी के साथ हम यह भी कह सकते हैं कि सूक्ष्मदर्शी तत्वज्ञों ने प्रथम प्रकृति (सांसारिक और मानवीय) भाषा आदि पर मार्मिक विचार कर के ऐसे नियम बना दिये जिनके आधार पर काव्य की रचना करने से मनोरंजक सौन्दर्य्यानन्द का अनुभव हो सकता है। कवियों ने इन्हीं नियमों के अनुसार काव्य की रचना की। विवाद को दूर करने के लिये ही हम दोनों में साहचर्य्य-सम्बन्ध मान कर आगे चलते हैं।

'भिन्न रुचिर्हिलोकः' के कारण जिस प्रकार दूसरे शास्त्रों में मत-मातान्तरों के द्वारा विकास-विवर्धन हुआ है उसी प्रकार इस काव्य-शास्त्र में भी भिन्न भिन्न आचार्य्यों के भिन्न भिन्न मतों के कारण प्रसार-प्रवर्धन हो सका है। इस प्रकार इस शास्त्र में जो विकास होता चला आया है उसका समय-निरूपण प्रमाण-पुष्ट और निश्चित रूप से नहीं किया जा सकता, क्योंकि इस पर प्रकाश डालने वाले इतिहास का

नितान्त अभाव ही सा है। स्पष्टता के लिये यहाँ हम काव्य और काव्य-शास्त्र की प्रगतियों पर साथ ही साथ सूक्ष्म रूप से विचार करना उचित समझते हैं।

आदि रामायण काव्य, जैसा कहा जा चुका है, अलंकृत-शैली का काव्य है और यह सूचित करता है कि उस समय में काव्य-कला के साथ ही साथ काव्यालङ्कार-शास्त्र भी अच्छी विकसित दशा में था। ऐसी ही सूचना हमें महाभारत नामी लोक-व्यापी प्रशस्त ग्रंथ से भी मिलती है। भट्टी आदि काव्य भी, जिनका समय इन्हीं के लगभग माना गया है—यही प्रगट करते हैं। इसके पश्चात् अर्थात् ईसवी शताब्दी से लगभग ५०० वर्ष पूर्व तक काव्य की ऐसी ही प्रगति रही। कदाचित् काव्य और काव्य-शास्त्र का पृथक्करण न हुआ था। इसके पश्चात् काव्य एक प्रौढ़ और परिष्कृत या-अलंकृत शैली से चलने लगा और काव्य-शास्त्र भी विवेचना-पूर्ण, गम्भीर और स्वतंत्र हो चला। फलतः दोनों के मार्ग पृथक् हो गये। हाँ चलते दोनों पारस्परिक अनुकूलता से ही रहे—जैसा विकास या परिवर्तन एक में हुआ वैसा ही दूसरे में भी होता रहा—काव्य-शास्त्र काव्य पर आधारित न रह कर काव्य को अपने ऊपर समाधारित करने का प्रयत्न कर चला और आगे चल कर वह इसमें सफल भी हुआ। अर्थात कुछ समय के उपरान्त काव्य-शास्त्र के ही आधार पर (उसके ही नियमों के अनुकूल) कवियों को काव्य-रचना करनी पड़ी। इससे

काव्य की स्वाभाविकता और स्वतंत्रता कुछ शिथिल सी हो चली। काव्य-रचना केवल उदाहरणों के ही लिये रह गयी।

अब यदि हम अपने प्राचीन इतिहास से इस विषय में सहायता लेते हुए देखें तो हमें यह ज्ञात होगा कि ईसवी शताब्दी से कई सौ वर्ष पूर्व से अलंकार-शास्त्र का उत्तरोत्तर उत्कर्ष और विकास होता चला आया है। काव्य भी अलं-कारों से पूर्णतया प्रभावित होता आया है और धीरे धीरे उसमें अलंकारों का प्राचुर्य्य-प्राधान्य होता गया है। जिससे यह सिद्ध होता है कि अलंकार-शास्त्र में क्रमिक-विकास के साथ ही साथ उसकी महत्ता और सत्ता भी उत्कर्ष पाती गई है, और समय समय पर नवीन अलङ्कारों की कल्पना और उनके भेदोपभेदों में वृद्धि होती गई है। इसके परिणाम रूप में यह भी हुआ है कि काव्य कुछ अंश में अस्वाभाविक कृत्रिम (कला-कौशल तथा चमत्कार-चातुर्य्य पूर्ण एवं गूढ़ दुर्बोध और वैचित्र्य पूर्ण) होता आया है। और इस प्रकार वह केवल विद्वानों को ही आनन्द देने वाला रह गया है। सम्भवतः समालोचना की पद्धति काव्य-शास्त्र के ही आधार पर चली है और इसी के स्पष्टीकरण या प्रयोगात्मक रूप में रही है। इससे काव्य-कला और काव्य-शास्त्र दोनों का परि-वर्धन और परिमार्जन हुआ है।

काव्य-शास्त्र के विकास का उत्तर काल यह प्रगट करता

है कि जब वह सुव्यवस्थित होकर सर्वाङ्ग पूर्ण सा हो गया तब विद्वान समालोचकों ने तार्किक-शैली से उसका परि-मार्जन करना प्रारम्भ किया और रुचि-पार्थक्य के कारण सिद्धान्तों का खंडन-मंडन करते हुए उसमें इतना विशेष परिशोधन और परिवर्तन कर दिया कि वह साधारण लोगों के लिए अत्यंत गम्भीर और दुर्बोध हो गया। हाँ, यह अव-श्य हुआ कि वह सब प्रकार वैज्ञानिक, तर्क-प्रतिपादित तथा सुविवेचित बन गया।

अलंकारों और उनके शास्त्र की प्राचीनता हमें प्राचीन-शिला-लेखों और प्राचीन-ग्रंथों (निरुक्त, निघंटु, पाणिनि कृत अष्टाध्यायी, वेदान्त, अश्व घोष-कृत बुद्ध-चरित्र, बाण-कृत कादम्बरी आदि) से स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाती है।* अलं-कार-शास्त्र का सब से प्राचीन उल्लेख हमें यदि कहीं मिलता है तो भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र में ही, यही सब से प्राचीन और अद्यावधि-प्राप्त ग्रंथ है। इसका मुख्य विषय नाट्य और नाटक ही है। इसके साथ ही इसमें रस-सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन (जो विशेषतया नाटक से ही सम्बन्ध रखता हुआ जान पड़ता है) और काव्य-शास्त्र के अंगों का सूक्ष्म-निरूपण

---

*इनके देखने से यह भी ज्ञात होता है कि प्रथम रचना में शब्दा-लङ्कारों का विशेष उपयोग होता था और उनकी विशेष प्रधानता रहती थी, उपमा आदि केवल कुछ स्वाभाविक तथा साधारण अर्थालं-कार ही प्रयुक्त होते थे।

भी मिलता है। कहा जा सकता है कि कदाचित् इस समय काव्य-शास्त्र का विकास पूर्ण रूप से न हुआ था या यदि हुआ भी था तो इसमें केवल उसका वही अंश रक्खा गया है जो नाटक के लिये आवश्यक है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि उस समय नाटक काव्य के अन्तर्गत न लिये जाते थे। इसी प्रकार काव्य-शास्त्र भी नाट्य-शास्त्र से पृथक माना जाता था। भरत मुनि ने केवल चार अलंकारों (१) उपमा (दस भेद) (२) रूपक, (२) दीपक (४) यमक (दस भेद) का ही उल्लेख किया है।

नाट्य-शास्त्र के रस-सिद्धान्त का प्रवेश काव्य-शास्त्र में बहुत समय के उपरान्त हुआ जान पड़ता है, और जब से ऐसा हुआ है तभी से काव्य में नाटकों की भी गणना होने लगी है। काव्य-शास्त्र के प्राचीन-ग्रंथों में रस का वैसा विवेचन नहीं, जैसा उत्तर कालीन ग्रंथों में है। उनमें अलंकार-विवेचन की ही प्रधानता है। *उत्तर कालीन ग्रंथों में अवश्य ही रस-विवेचन प्रधान रूप में और अलंकार कुछ गौण रूप में मिलते हैं, साथ ही उनमें नाट्य-शास्त्र का भी अंश रक्खा गया है।

अलंकार-शास्त्र के सब से प्रथम और प्रधान आचार्य्य

---

*काव्य ग्राह्यमलंकारात्—अर्थात् काव्य-अलंकारों के ही कारण ग्राह्य है। इसके उपरान्त उत्तर काल में 'वाक्यम् रसात्कम् काव्यम्'—अर्थात् रसात्मक वाक्य ही काव्य है, हो गया

भामा ही कहे जाते हैं, क्योंकि इन्होंने ही इस शास्त्र को सुव्यवस्थित और वैज्ञानिक ढंग से सब से प्रथम लिखा है और उनका ग्रंथ अब तक हमें प्राप्त भी होता है। अन्य आचार्यों ने न्यूनाधिक रूप में आप से सहायता ली है, इनके ग्रंथ में केवल २६ ही अलंकार मिलते हैं और उससे यह भी ज्ञात होता है कि इनके समय में आक्षेप, अर्थान्त रन्यास, व्यक्तिरेक, विभावना, अतिशयोक्ति और समासोक्ति नामक ६ नये अलंकार और कल्पित किये गये थे। अर्थालङ्कार एवं शब्दालङ्कार सम्बन्धी विभाजन इनके ही समय से प्रारम्भ हुआ जान पड़ता है। अर्थालङ्कार के स्थान पर इन्होंने अभिधेयालङ्कार का प्रयोग किया है।

दण्डीजी दूसरे प्रधान और प्रसिद्ध आचार्य्य हैं। यद्यपि आपने भामः से बहुत बड़ी सहायता ली है तथापि अपना एक विशेष मार्ग निश्चित किया है। आपके समय में अलंकार-शास्त्र की पर्य्याप्त-वृद्धि हो चुकी थी। वार्ता, यथासंख्य, उत्प्रेक्षा और स्वभावोक्ति नामी ४ अलंकार और बढ़ गये थे। स्वभावोक्ति को प्रधानता देते हुए कुछ लोग इसे मूल-तत्व मानकर आद्यालङ्कार भी कहने लगे थे। चित्रालाङ्कारों का प्रारम्भ कदाचित् आपही के समय से हुआ है। मत-पार्थक्य से ४ या ५ अलंकारों को छोड़कर ३६ अलंकार आपने लिखे हैं। प्रतिवस्तूपमा, उपमा-रूपक, सन्देह, संसृष्टि और अनन्वयादि अलंकार आपने छोड़ दिये हैं।

९ वीं शताब्दी में उद्भटाचार्य्य हुए, जिन्होंने शास्त्रीय-पद्धति से ४१ प्रधान अलंकारों का विवेचन किया। भामः के यमक और आशीः आदि कुछ अलंकार तो आपने छोड़ दिये हैं और काव्य-लिङ्ग, दृष्टान्त, संकर, पुनरुक्तिवदाभास और श्लेष—(शब्द और अर्थ के आधार पर दो रूपों में) नामी अलंकार और दिये हैं। हेतु, सूक्ष्म, लेश और वार्ता नामी अलंकार भी इनके ग्रंथ में नहीं मिलते। श्लेष को इन्होंने सब अलंकारों से बल-वत्तर और प्रधान माना है।

अलंकार-शास्त्र में एक नवीन विशेषता उत्पन्न करने वाले आचार्य्य वामन जी हैं। इन्होंने रीति-सिद्धान्त को प्रधानता दी है और रीति को ही काव्य की आत्मा कहा है। अलंकारों को प्रसाद आदि काव्य-गुणों के उत्कर्षक धर्मों के रूप में माना है और केवल ३३ मुख्य अलंकार लिखे हैं। इनके पश्चात् रुद्रटाचार्य्य ने अर्थालङ्कारों की मार्मिक-विवेचना की है। उनके ४ मूल तत्व देते हुए एक विशेष वर्गीकरण के साथ ६५ अर्थालङ्कार और ५ शब्दालंकार दिये हैं। अलंकारों में नामान्तर एवं रूपान्तर भी आपने किया है, साथ ही कुछ नवीन अलंकार तथा भेद भी दिये हैं। इन्हीं के पश्चात् से मत-मतान्तर खंडन-मंडन आदि का प्रारम्भ होता है और अलंकार-सिद्धान्त का बल कुछ कम हो चलता है क्योंकि आनन्दवर्धनाचार्य्य ध्वनि-सिद्धान्त पर, कुन्तल-वक्रोक्ति पर, —जिसे वे काव्य की आत्मा तथा अलंकारों का प्राण मानते हैं

और वक्रोक्ति या वैचित्र्य न रखने वाले अलंकारों को अलंकार न मानकर केवल २६ ही अलंकार देते हैं—विशेष बल देते हैं। यद्यपि इस प्रकार का वाद-विवाद बराबर न्यूनाधिक रूप में चलता ही गया है तथापि इसका बल-वेग उत्तर काल में कम हो गया है।

११ हवीं शताब्दी (सन् ११३० ई०) में भोजराज का समय आता है। भोज ने अग्नि पुराण का अनुसरण करते हुए शब्द, अर्थ और उभय नामी ३ कक्षाओं में विभाजन कर प्रत्येक में २४ अलंकार दिये हैं और वैशेषिक-दर्शन के ६ प्रमाणों को भी अलंकारों का रूप दे दिया है। १२हवीं शताब्दी में रुय्यक ने अलंकार-शास्त्र का एक प्रमाणिक ग्रंथ लिखा है, जिसमें ध्वनि को प्रधानता देकर ७५ अलंकारों का विवेचन है। उत्तर-कालीन चन्द्र-लोक, साहित्य-दर्पण आदि प्रायः सभी ग्रंथ इन्हीं के ग्रंथ पर समाधारित हैं।

परम प्रसिद्ध काव्य-प्रकाश नामी ग्रंथ ११५० ई० के लगभग में मम्मटाचार्य्य ने रचा है, जिसमें काव्य-शास्त्र का सांगोपाङ्ग-विवेचन है। कदाचित् इसी समय से काव्य-शास्त्र के ग्रंथों की रचना दो विभिन्न शैलियों में हो चली है—अर्थात् १—समस्त काव्याङ्गों का विवेचन करते हुए सर्वाङ्ग पूर्ण ग्रंथ लिखना और २—केवल अलंकारों की विवेचना करते हुए काव्याङ्ग-विशेष पर ही ग्रंथ रचना। काव्यादर्श ही वह ग्रंथ है जिस पर उत्तर-कालीन समस्त संस्कृत और हिन्दी

ग्रंथ न्यूनाधिक रूप में आधारित हैं। इसी के कुछ ही समय पूर्व से रस-सिद्धान्त का प्राधान्य मान्य हो चला है।

१२०० ई० के लगभग जयदेव ने अपना 'चन्द्रालोक' नामी केवल अलङ्कार-विवेचन का ग्रंथ लिखा। इसकी टीका एवं वृद्धि करते हुए अप्पय दीक्षित ने 'कुवलयानन्द' की रचना की, (प्रथम ग्रंथ में १०० अर्थालङ्कार और ४ शब्दालङ्कार हैं, द्वितीय में केवल अर्थालङ्कार ही दिये गये हैं, हाँ, उनकी संख्या बढ़ा कर १२४ कर दी गई है) यही दोनों ग्रंथ हिन्दी-अलङ्कार-शास्त्र के प्रधान आधार या उद्गम-स्थान हैं। हिन्दी के प्रायः सभी आचार्य्य इन्हीं के आधार पर चलते हैं। इनकी शैली, परिभाषाएँ और उदाहरण आदि सभी बातों का पूरा अनुकरण हिन्दी में किया गया है, कतिपय हिन्दी-लेखकों ने तो इनका अनुवाद ही सा किया है। अप्पय के समान हिन्दी के पद्माकर आदि आचार्यों ने भी शब्दालङ्कारों का विवेचन छोड़ दिया है।

१३ हवीं शताब्दी से १६ हवीं शताब्दी तक भी संस्कृत के विद्वानों ने काव्य-शास्त्र पर टीका-टिप्पणी तथा कुछ मौलिक रूप में भी खंडन-मंडन के साथ प्राचीन तार्किक-शैली से कार्य करते हुए कई अच्छे ग्रंथ और तय्यार किये, जिनमें से 'साहित्य-दर्पण' और 'रस-गङ्गाधर' विशेष प्रचलित और प्रसिद्ध हैं। हिन्दी के आचार्यों ने इन दोनों ग्रंथों से भी बहुत बड़ी सहायता ली है।

अभ्यास

१. काव्य और काव्य-शास्त्र में पूर्वापर सम्बन्ध है या नहीं, संक्षेप से लिखो।

२. अलङ्कारों के उपयोग की प्राचीनता तुम्हें कैसे ज्ञात होती है ?

३. काव्य-शास्त्र का वह सब से प्राचीन ग्रंथ कौन है जो अब तक प्राप्त है, उसके विषय में तुम क्या जानते हो।

४. भरत मुनि ने कितने अलङ्कारों का उल्लेख किया है ? उनके नाट्य-शास्त्र से क्या विशेष बात ज्ञात होती है।

५. प्राचीन तथा प्रधान संस्कृत-आचार्यों तथा उनके ग्रंथों के विषय में तुमने क्या पढ़ा है ?

६. उन आचार्यों के विषय में तुम क्या जानते हो, जिन्होंने अलङ्कार-शास्त्र में विशेष मौलिकता की है ?

७. तुम्हें यहाँ अलङ्कारों की संख्या-वृद्धि का क्या विवरण मिलता है ?

८. काव्य-शास्त्र के इतिहास को तुम स्थूलरूप से किन कालों में किस प्रकार और किन विशेषताओं के आधार पर विभक्त कर सकते हो ?

९. संस्कृत के उन ग्रंथों के विषय में क्या जानते हो, जिन पर हिन्दी के ग्रंथ समाधारित से हैं ?

१०. उन प्राचीन ग्रंथों का उल्लेख करो, जिनमें तुम्हें अलङ्कार प्राप्त होते हैं, और दिखलाओ कि इससे क्या सिद्ध होता है ?

हिन्दी अलंकार-शास्त्र

हिन्दी भाषा और उसके साहित्य के इतिहास से यह ज्ञात होता है कि ११ हवीं और १२ हवीं शताब्दियों तक में हिन्दी उत्पन्न होकर अपने शैशव रूप में आ गई थी। यद्यपि इस समय हिन्दी का वह काल चल रहा था जिसे वीर-काव्य-काल कहा गया है और जिसमें रासो आदि ग्रंथों की रचना हुई है *तथापि कुछ लेखक ऐसे भी थे जिन्होंने काव्य-शास्त्र की ओर ध्यान दिया। पुष्य या पुण्ड (१० वीं शताब्दी) ने संस्कृत के किसी अलंकार-ग्रंथ का हिन्दी-दोहों में अनुवाद किया था। इसके पश्चात् गोप, करनेस आदि ४ या ५ दूसरे लेखकों ने भी इस विषय पर अपने ग्रंथ लिखे, किन्तु वे अब उपलब्ध नहीं है—अस्तु निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि उस समय इस विषय पर कैसा कार्य्य हुआ था।

देश, काल एवं परिस्थितियों के प्रभाव से हिन्दी-अलङ्कार-शास्त्र का कार्य्य ५ या ६ शताब्दियों तक स्थगित सा पड़ा रहा। १६ हवीं और १७ हवीं शताब्दियों में आचार्य्य केशव-दास ने केशव मिश्र के 'अलङ्कार शेषर' पर आधारित करते हुए अपनी 'कवि प्रिया' नामक पुस्तक में काव्य-शास्त्र का सुन्दर शास्त्रीय-विवेचन किया और इस कार्य का नवीन

*देखो श्री 'रसाल' जी का 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास'।

उदय किया, यही ग्रंथ हिन्दी-अलङ्कार-शास्त्र का सब से प्राचीन और प्रथम प्राप्य ग्रंथ माना जाता है। कतिपय मौलिक बातें देते हुए केशवदास ने इसमें अपनी आचार्यता दिखलाई है। कुछ नये अलङ्कार तथा कुछ नये भेदोपभेद देते हुए उन्होंने कला-कौशल और शब्दालङ्कारों का भी विशेष विवरण दिया है।

केशव के पश्चात् हिन्दी-साहित्य का वह काल आता है जिसे 'रीति' या 'कला-काल' कहा गया है। इस काल में प्रायः जितने भी प्रधान कवि हुए हैं उन सबों ने काव्य-शास्त्र और अलङ्कार-विषय पर ग्रंथ लिखे हैं*। कुछ कवियों ने तो काव्य-प्रकाश के आधार पर काव्य-शास्त्र के सभी विषयों के विवेचन-सम्बन्धी ग्रंथ लिखे और कुछ ने केवल अलङ्कार-विवेचना के ही ग्रंथ लिखे। इन कवियों में से राजा जसवंतसिंह (भाषा-भूषण) श्रीपति मिश्र (साहित्य-सरोज) भूषण (शिवराज-भूषण) मतिराम (ललित-ललाम) भिखारीदास (काव्य-निर्णय) देव (भाव-विलास) लछिराम (रावणेश्वर-कल्प-तरु) दूलह (कण्ठाभरण) और पद्माकर (पद्माभरण) आदि बहुत प्रसिद्ध हैं।

दो शताब्दियों या इससे कुछ अधिक समय में इस विषय

---

*इसका विस्तृत विवरण देखो पूज्य श्री० रसाल जी कृत "हिन्दी-साहित्य के इतिहास" में।

पर बहुत से ग्रंथ कवियों के द्वारा रचे गये और अलङ्कारों की परिभाषाएँ देकर उनके उदाहरणों में अपनी काव्य-प्रतिभा के दिखाने की एक पद्धति सी चल पड़ी। खेद का विषय है कि इन ग्रंथों में से बहुत ही कम ग्रंथ आजकल प्राप्त हैं। १९०० ई० के पश्चात् यह कार्य भी शिथिल हो कर बन्द सा हो गया। इधर की ओर केवल इस विषय पर दो चार पुस्तकें ही प्रकाशित हुई हैं। अभी दो वर्ष हुए कि अलङ्कार-शास्त्र का वैज्ञानिक तथा विस्तृत विवेचना-पूर्ण "अलङ्कार-पीयूष" नामी ग्रंथ दो भागों में पूज्यवर पं० रामशङ्कर जी शुक्ल 'रसाल' एम० ए० प्रयाग के द्वारा प्रकाशित कराया गया है—जिसका स्वागत हिन्दी-संसार के प्रमुख विद्वानों ने मुक्त कंठ से किया है। आशा है कि आगे भी अच्छा कार्य होगा।

यहाँ हम कुछ ऐसी आवश्यक बातें भी दे देना चाहते हैं जिनसे विद्यार्थियों को हिन्दी-अलङ्कार-शास्त्र के लेखकों और उनकी रचना-शैलियों से उपयुक्त परिचय प्राप्त हो जाय:—

कला-काल में अलंकार तथा काव्य-शास्त्र की रचना पद्यात्मक-शैली से ही की गई है, हाँ, कवियों ने रुचि-पार्थक्य से इस क्षेत्र में निम्नांकित भिन्न भिन्न शैलियों का उपयोग किया है :—

(१) **दोहा-शैली:**—इसके अनुसार लक्षण और उदाहरण दोनों दोहा छंद में ही रक्खे गये हैं। यह शैली चन्द्रालोकादि की अनुष्टुप शैली के अनुकरण तथा आधार पर है।

(२) **भिन्न-छन्दात्मक-शैली** :—इसके अनुसार लक्षण तो दोहों में किन्तु उदाहरण कवित्त, सवैया आदि दूसरी छन्दों में दिये गये हैं, यह शैली साहित्य-दर्पण आदि की शैली के आधार पर चली है।

(३) **कवित्त-शैली** :—इसके अनुसार लक्षण और उदाहरण दोनों साथ साथ कवित्तों में रक्खे गये हैं।

(४) **विविध-छन्दात्मक-शैली** :—इसके अनुसार लक्षण भिन्न भिन्न छन्दों में तथा उसी प्रकार उदाहरण भी विविध छन्दों में दिये गये हैं।

(५) **गद्य-शैली** :—यह वर्तमान समय में चल रही है, इसके अनुसार लक्षण तथा उनके विवेचन तो गद्य में रहते हैं किन्तु उदाहरण पद्य में। इसका एक रूप वह भी है जिसमें लक्षण गद्य-पद्य दोनों में दिये जाते हैं और इसी प्रकार उदाहरण भी रक्खे जाते हैं।

इसी प्रकार इस काल के अलङ्कार-ग्रन्थों पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि उन ग्रन्थों के प्रणेता भी भिन्न भिन्न उद्देश्यों के साथ ग्रन्थों का निर्माण करते थे और इसी लिये हमें वे लेखक कई कोटियों में विभक्त जान पड़ते हैं। सब से प्रथम हम उस कोटि के लेखकों को लेते हैं जिनका उद्देश्य मूलतः वैज्ञानिक रूप से मौलिकता के साथ काव्य-शास्त्र के ही लिये ग्रन्थ-निर्माण करने का था। इस प्रकार के लेखकों को हम आचार्य्य श्रेणी में रख सकते हैं।

(१) **आचार्य्य-श्रेणी** :—इस श्रेणी में केशव, भिखारी दास, देव, लछिराम और भूषण लिए जा सकते हैं।

दूसरे प्रकार के लेखक वे हैं जिन्होंने आचार्य्यत्व के साथ अलंकारों की विवेचना न करके संस्कृत के किसी अलंकार-ग्रन्थ (प्रायः कुवलयानन्द और चन्द्रालोक) का स्वतंत्र अथवा छायानुवाद सा किया है या ठीक उसी के आधार पर कुछ थोड़े ही हेर-फेर से अलंकारों का सूक्ष्म वर्णन करके अर्थात् उनके लक्षण देकर अपने कवि-कर्म में प्रवृत्त होते हुए उदाहरणों के द्वारा अपनी काव्य-प्रतिभा दिखलाई है। ऐसे लेखकों को अनुवादक-कवि कह सकते हैं।

(२) **अनुवादक-कवि-श्रेणी** :—इस श्रेणी में पद्माकर, मतिराम, गोकुल, रामसिंह और जसवंतसिंह आदि लिये जा सकते हैं।

तीसरे प्रकार के लेखक वे हैं जिन्होंने अपने आश्रय-दाताओं के कहने से साधारण काव्य-प्रेमी जनों के हितार्थ अलंकार की ऐसी छोटी छोटी पुस्तकें लिखी हैं जो विद्यार्थियों की पाठ्य-पुस्तकें ही कही जा सकती हैं, उनमें केवल स्थूल रूप से अलंकारों के साधारण लक्षण देकर साधारण उदाहरण दे दिये गये हैं। ऐसे लेखकों को हम साधारण लेखक कह सकते हैं।

(३) **साधारण-श्रेणी** :—इस श्रेणी में दूलह जैसे कवि आते हैं।

यहाँ हम भी कह सकते हैं, कि कुछ कवि ऐसे भी थे जो स्वतंत्र रूप से अपना कवि-कर्म किया करते थे और उन कवियों की भांति, जिनका उल्लेख हम दूसरी श्रेणी में कर चुके हैं, रीति-ग्रन्थ लिखकर उदारहणों के रूप में एक प्रचिलित तथा बँधी हुई परिपाटी के अनुसार रचनायें न किया करते थे।

हिन्दी-अलंकार-शास्त्र के जितने भी ग्रन्थ हैं उन सब की रचना व्रज भाषा में ही की गई है और सभी पद्यात्मक हैं। व्रज-भाषा ही काव्य-साहित्य की सर्वमान्य, व्यापक और प्रधान भाषा थी। मुद्रण-यंत्रादि की अनुपस्थिति तथा शीघ्र याद होने के गुण से पद्यात्मक शैली ही विशेष रूप से उपयुक्त मानी जाती थी। इसी शैली से संस्कृत के वे ग्रन्थ भी लिखे गये थे जिनके आधार पर एतद् विषयक हिन्दी-ग्रन्थों की रचना हुई है।

वर्तमान समय में इस विषय के ग्रन्थ पद्य शैली में न लिखे जा कर प्रायः गद्य शैली में ही लिखे जाते हैं। इस सूक्ष्म लेख से अब अलंकार-शास्त्र का ऐतिहासिक-विकास, उसके प्रधान आचार्य्य और अलंकारों की संख्या में जो समय समय पर वृद्धि हुई है आदि बातों का पता चल गया होगा।

अभ्यास

(१) हिन्दी-अलङ्कार-शास्त्र का कार्य्य कब से और किस रूप में प्रारम्भ हुआ।

(२) संस्कृत के वे कौन कौन से प्रधान ग्रंथ हैं जिनसे हिन्दी के लेखकों ने सहायता ली है।

(३) अलङ्कार विषयक ग्रंथ हिन्दी में किन शैलियों से लिखे गये हैं।

(४) लेखकों का श्रेणी-विभाग यहाँ किस प्रकार किया गया है।

(५) हिन्दी-अलङ्कार-शास्त्र के इतिहास को तुम किन किन कालों में किस प्रकार विभक्त कर सकते हो ? यहाँ इसके लिए क्या संकेत दिया गया है।

(६) आचार्य्य श्रेणी के प्रधान कवि कौन हैं और क्यों वे उस श्रेणी में रक्खे गये हैं।

(७) वर्तमान समय में इस ओर क्या परिवर्तन दिखलाये गये हैं और क्यों ?

प्रश्न

(१) किन किन अलंकारों का जन्म किन देवताओं और महर्षियों से हुआ है ?

(२) अलंकारों के ऐतिहासिक विकास से तुम क्या समझते हो और उसका काल-विभाजन किस प्रकार कर सकते हो।

(३) काव्य और काव्य-शास्त्र में से तुम किसे पूर्व और किसे पश्चात् का मान सकते हो और क्यों ?

(४) संस्कृत और हिन्दी के लेखकों में क्या साम्य और क्या अन्तर है। सतर्क लिखो।

(५ किस प्रकार हमें यह ज्ञात होता है कि अलंकारों का उपयोग बहुत

प्राचीन काल से होता चला आया है। तुम्हारे साधन कहाँ तक पुष्ट और प्रमाणित हैं।

(६) नाट्य-शास्त्र में इस विषय का क्या उल्लेख पाया जाता है और उससे क्या सिद्ध होता है।

(७) संस्कृत के किन आचार्य्यों ने इस विषय पर क्या मौलिक सिद्धान्त निश्चित किये हैं, क्या उनका कुछ प्रभाव हिन्दी के आचार्य्यों पर पड़ा है।

(८) कितने समय तक हिन्दी और संस्कृत दोनों में इस विषय पर कार्य साथ साथ हुआ, विवेचनात्मक रूप से लिखो।

अलङ्कार-विषय के दो रूप

ज्ञान के प्रायः दो रूप हुआ करते हैं—एक सैद्धान्तिक, जिसमें ज्ञान के आधार-भूत सिद्धान्त स्थिर किये जाते हैं और सुव्यव स्थित रूप से स्पष्टता के साथ संगुम्फित करके शास्त्रीय ढंग से रक्खे जाते हैं, इसे विज्ञान या शास्त्र कहते हैं। इसके व्यावहारिक या प्रयोगात्मक रूप को, जिसमें किसी विषय के सिद्धान्तों या नियमों को लेकर उनके आधार पर प्रयोगात्मक कार्य्य किया जाता है और यह देखा जाता है कि वे नियम सर्वत्र समान रूप से चरितार्थ हो जाते हैं, कला कहते हैं।

ज्ञान के जितने भी विषय हैं प्रायः सब में उक्त दो रूप पाये जाते हैं। अलंकार का विषय इसलिये इसका अपवाद नहीं

हो सकता—अर्थात् इसके भी उक्त दो रूप हैं। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि कला और शास्त्र में से कौन पूर्व और कौन पर है। इसी प्रकार अलङ्कार-शास्त्र और उसकी कला के पूर्वापर सम्बन्ध का भी निर्णय नहीं हो सका। हाँ यह अवश्य ही अनुमान के रूप में कहा जा सकता है कि प्रथम काव्य-कला की उत्पत्ति हुई होगी और उसकी भाषा के सुन्दर रूपों तथा उसकी शैली के सुन्दर विधानों को एकत्रित करके अलङ्कारों का नामकरण किया गया होगा और यह निश्चित किया गया होगा कि शब्दों, पदों, वाक्यों तथा भावों को अमुक अमुक प्रकार से रखने पर उनमें मनोरंजक-सौन्दर्य्य और सौष्ठव आता है। इसके उपरान्त यह भी सम्भव है कि विद्वानों ने इन निश्चित विधानों या अलङ्कारों के आधार पर और भी ऐसे दूसरे विधानों की कल्पना की हो जिनसे काव्य की भाषा और शैली में चमत्कार और चातुर्य्य के रोचक रूप कला-कौशल के साथ बन सकते हों।

यदि हम इस प्रकार मान लें तो अलङ्कार-शास्त्र की रचना काव्य-कला के पश्चात ही की गई सिद्ध होती है, और इसके लिये बहुत कुछ प्रमाण के रूप में मसाला भी मिलता है।

जब वैज्ञानिक कार्य करके किसी विषय पर व्यापक या साधारण नियम बन जाते हैं तब यह देखने के लिये कि वे कहाँ तक ठीक हैं, उन्हें प्रयोग-शाला में वर्तते हैं। अलङ्कारों के सम्बन्ध में भी यही बात ठीक उतरती है। जब अलङ्कारों के

रूप निर्धारित हो गये तब उनका प्रयोग काव्य में किया गया और यह सिद्ध पाया गया कि इनके उपयोग से वस्तुतः काव्य में विचित्र रोचकता आ जाती है। ऐसा हो चुकने पर ही कवियों ने इन्हीं के लिये काव्य की रचना प्रारम्भ कर दी। ऐसी दशा में वह काव्य-कला, जिसके आधार पर अलङ्कार-शास्त्र की रचना हुई थी, अब अलङ्कारों पर ही आधारित रह गई, अर्थात वह अलङ्कारों के प्रयोगात्मक रूप में ली जाने लगी। ऐसा हो चुकने पर वह समय आ गया जब दोनों के पूर्वापर सम्बन्ध का निश्चय करना एक जटिल समस्या के रूप में जँचने लगा और विद्वानों को दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध मानना पड़ा।

इन बातों को ध्यान में रखते हुये हम अब निष्कर्ष-रूप में यों कह सकते हैं कि अलङ्कार-विषय के दो रूप हैं:—

(१) शास्त्रीय-रूप:—जिसमें अलङ्कारों के लक्षण, उनका विवेचन और उन्हें स्पष्ट करने के लिये उदाहरण दे दिये जाते हैं:—

(२) कला-रूप:—जिसमें अलङ्कारों के लक्षण आदि तो नहीं दिये जाते वरन् उन लक्षणों को ध्यान में रख कर उन्हीं के आधार पर (उनका प्रयोग करते हुए) स्वतंत्र रूप से किसी विषय पर काव्य-रचना की जाती है, अथवा काव्य-रचना अलंकृत रूप मेंकरके यह दिखलाया जाता है कि यहाँ इस विशेष अलङ्कार का प्रयोग किया गया है, यहां अलङ्कारों के नाम और लक्षण सूक्ष्म रूप में दे दिये जाते हैं, जो गौण रहते हैं।

अभ्यास

(१) अलंकार के किन दो रूपों का किस प्रकार यहाँ निरूपण किया गया है।

(२) किस प्रकार काव्य-कला, काव्य-शास्त्र को उत्पन्न करके फिर उसके प्रयोगात्मक रूप में बदल सी जाती है।

(३) शास्त्र और कला में क्या अन्तर है—दोनों के पर्यायीवाची-शब्द स्पष्ट रूप से समझाओ

प्रश्न-पत्र (२)

(१) सिद्ध करो कि अलंकारों का विकास धीरे धीरे और क्रम से हुआ है।

(२) 'हिन्दी में अलंकारों के विषय में खण्डन-मण्डन इसलिये नहीं हो सका कि इसके लेखक कवि थे जिनके लिये कविता करना मुख्य और अलंकार-विवेचन करना गौण रूप में था'—इसकी सतर्क आलोचना करो।

(३) काव्य की परिभाषाओं में मत-भेद होने के कारण अलंकार-शास्त्र पर क्या प्रभाव पड़ा, स्पष्ट रूप में लिखो।

(४) वर्त्तमान समय में अलंकार-ग्रंथों की रचना-शैली में क्यों परिवर्तन किया गया—अपनी ओर से इसके कारण सतर्क लिखो।

(५) हिन्दी-लेखकों ने किन भिन्न-भिन्न शैलियों से अलंकार-ग्रंथ लिखे हैं—उनमें से तुम किसे पसंद करते हो और क्यों?

(६) 'भाषा के मर्मज्ञों ने अलंकारों के रूप में भाषा-सौन्दर्य के विधानों की कल्पना पहिले की और तब कला-कुशल कवियों ने उनका प्रयोग किया'—आलोचना करो।

शब्दालङ्कार

काव्योपयुक्त किसी मनोरञ्जक विषय या वस्तु के वर्णन करने में जिस विशेष-विधान के द्वारा सौन्दर्य्यमय चातुर्य्य-चमत्कार लाया जाता है, उसे अलङ्कार कहते हैं। यह प्रथम ही बतलाया जा चुका है कि काव्य का सौन्दर्य्य न केवल काव्य के मनोरंजक विषय में ही रहता है वरन् उस विषय के वर्णन करने में भी विशेष सुन्दरता रहती है। इस वर्णन-सौन्दर्य्य के भी दो रूप हो जाते हैं—एक रूप तो वह है जो हमें कथनीय अथवा वर्णनीय बात या विचार के विचित्र और रोचक रूप से रखने में मिलता है, इसे हम वाक्-सौन्दर्य कह सकते हैं। दूसरा रूप वह है जो हमें उस विशिष्ट रूप से सुसज्जित और व्यवस्थित की हुई भाषा में मिलता है जिसके द्वारा हम वर्णनीय विषय-सम्बन्धी विचारों को व्यक्त करते हैं, इसे हम भाषा-सौन्दर्य्य कह सकते हैं।

भाषा में सुन्दर सजावट मुख्यतया १—वर्णात्मक २—शब्दात्मक ३—पदात्मक ४—चित्रात्मक ढंगों से लाई जाती है। इनमें से प्रथम तीन ढंगों को शब्दालङ्कार की संज्ञा दी गई है।

और चतुर्थ को चित्रालङ्कार कहा गया है। अस्तु, अब हम कह सकते हैं कि :—

शब्दालङ्कार:—"काव्योचित वर्णनीय-विषय के वर्णन की भाषा को चातुर्य-चमत्कार के साथ सजाने के उस ढंग को कहते हैं जिससे भाषा में मनोरंजक रुचिरता और प्रतिभा प्रतिभात होती है।"

चूँकि भाषा शब्दों से बनती है इस लिए उसे अलंकृत करने के विधानों का सम्बन्ध विशेषतया शब्दों से ही रहता है इसी लिये इन विधानों को शब्दालङ्कार की संज्ञा दी गई है।

इन विधानों के द्वारा भाषा के बाहिरी कलेवर का रूप सुन्दर और रोचक होकर हमें तत्काल आकृष्ट करता हुआ दृष्टि-गोचर होता है अर्थात् काव्य के केवल पढ़ने, सुनने और देखने से ही (बिना उसके भाव आदि पर ध्यान दिये या समझे ही) इस सौन्दर्य का ज्ञान हो जाता है और पहिले ही चित्त खिंच जाता है, जैसे किसी व्यक्ति के सुन्दर परिधान एवं आभूषणादि को हम प्रथम ही देख कर उनकी ओर आकृष्ट हो जाते हैं वैसी ही काव्य-कलेवर (भाषा) को सजाने वाले इन आभूषणों रूपी शब्दालंकारों को भी हम प्रथम देख कर उनकी ओर आकर्षित होते हैं। इसी लिए कदाचित शब्दालंकारों को विशेष प्राधान्य एवं स्थान दिया गया है। प्राचीन समय में तो आचार्य्यों और लेखकों ने इन्हें प्रथम गौरव दिया है। इनके कारण हम नेत्रों (पढ़ते समय) कानों (सुनते समय) और

रसना (बोलते समय) तीनों प्रधान इन्द्रियों के सुखों का अनुभव करते हैं।

शब्दालङ्कार-विकास

प्राचीन काल के शिला-लेखादि यह सूचित करते हैं कि उस समय शब्दालंकारों का प्रयोग-प्रचार विशेष था। भरत मुनि ने दो प्रकार के शब्दालंकार (१) वर्णाभ्यास (अनुप्रास) (२) पदाभ्यास (यमक) दिये हैं। उनके समय तक में सम्भवतः शब्दालङ्कारों की इतनी ही उन्नति हुई थी, उनके पश्चात् इनके रूपों और भेदोपभेदों की उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई और इनकी कुल संख्या भोजराज के समय तक में २४ तक पहुँच गई। किन्तु यदि देखा जाय तो इनके मुख्य रूप ६ या ८ ही हैं और वे ही व्यापक रूप से माने भी गये हैं।

उत्तर काल के कुछ आचार्य्यों ने वक्रोक्ति, श्लेष और चित्र को भी इनके अन्दर रक्खा है, किन्तु हम इन्हें प्रथक ही रखना अच्छा समझते हैं क्योंकि इनका विशेष सम्बन्ध अर्थ या भाव से ही है। चित्रालंकारों को हम सर्वथा स्वतंत्र स्थान देते हैं और उन्हें कला-कौशल अथवा वर्ण-व्यवस्था-कौतुक में ही गिनते हैं।

शब्दालङ्कार भेदः—इस प्रकार हम शब्दालङ्कारों में केवल ६ रूपों को ही प्रधान मानते हैं—जैसा अन्य आचार्य्यों ने भी माना है :—

(१) अनुप्रास (२) वीप्सा (३) यमक (४) लाट (५) पुनरुक्तिवदाभास (६) पुनरुक्ति प्रकाश।

शब्दालंकारों के आधार अथवा मूल-तत्व के विषय में हम प्रथम ही लिख चुके हैं और उसी के आधार पर (१) वर्णावृत्ति सम्बन्धी (२) शब्दावृत्ति सम्बन्धी (३) पदावृत्ति सम्बन्धी तीन मुख्य भेद दिखला चुके हैं। आवृत्ति के विषय में इसका सदैव ध्यान रखना चाहिये कि वह या तो सार्थक होगी अथवा निरर्थक होगी और इस प्रकार उसके दो मुख्य भेद हो जावेंगेः—

सार्थकावृत्ति :—जिसमें आवृत्ति-मूलक वर्ण-समुच्चय अथवा शब्द का पूर्व की अपेक्षा एक विशेष अर्थ-रहता है। इस प्रकार की आवृत्ति में कहीं कहीं अर्थ-साम्य अथवा कुछ वैशिष्ट्य रहता है। सार्थकावृत्ति प्रायः यमक, वीप्सा, पुनरुक्ति प्रकाश और सिंहाविलोकन में पाई जाती है।

निरर्थकावृत्ति :—जिसमें आवृत्ति-मूलक वर्णों अथवा उनसे बनने वाले शब्दों का कोई विशेष अर्थ नहीं होता। इस प्रकार की आवृत्ति काव्य में अच्छी नहीं मानी जाती और इसी लिए बहुत कम प्रयुक्त होती है। अमृतध्वनि आदि में ऐसी आवृत्ति देखी जाती है।

आवृत्ति के सम्बन्ध में यह भी स्मरण रखना चाहिये कि उसमें यथाक्रमता का होना आवश्यक अथवा अनिवार्य्य ही सा है। जहाँ आवृत्ति में यथा-क्रमता नहीं होती वहाँ भी यद्यपि एक विशेष प्रकार की आवृत्ति रहती है तो भी रोचकता नहीं पाई जाती, इसी लिये बिना यथाक्रमता के आवृत्ति का प्रयोग बहुत

क्रम किया जाता है। क्रम-विपर्य्ययति एवंव्यति-क्रम के प्रतिलोमानुलोम आदि अच्छे उदाहरण हैं, किन्तु इनकी गणना प्रायः चित्रालङ्कारों में ही की जाती है।

शब्दालङ्कारों के सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य सब से विशेष बात यह है कि यदि शब्दालङ्कार सम्बन्धी शब्दों एवं पदों के स्थान पर उनके समानार्थवाची अन्य शब्द या पद रख दिये जाँय तो अलङ्कार-सौन्दर्य्य नहीं रह जाता।

भेद और वर्गीकरण

आवृत्ति के आधार पर शब्दालङ्कारों का वगीकरण एवं भेदोपभेद यों किया जा सकता है:—(१) वर्णावृत्ति सम्बन्धी—जहाँ वर्ण या वर्णों की एक या अधिक बार आवृत्ति हो। इस प्रकार की आवृत्ति के अन्दर अनुप्रास (छेक, वृत्ति और अंतानुप्रास) वर्णावृत्ति मूलक यमक, वैसे ही तुक और सिंहावलोकन आते हैं।

(२) शब्दावृत्ति सम्बन्धी—जिसमें शब्द की आवृत्ति एक या कई बार होती है। यमक (शब्दावृत्ति सम्बन्धी) वीप्सा, पुनरुक्ति-प्रकाश, सिंहावलोकन और तुक (शब्दावृत्ति सम्बन्धी) इसके रूप हैं।

(३) पदावृत्ति सम्बन्धी—जिसमें कई शब्दों से बने हुए सार्थक पद या वाक्य की आवृत्ति होती है। लाट, वीप्सा (पद-गत) और कुण्डल इसके मुख्य भेद हैं।

आवृत्ति के सम्बन्ध में यह और समझ लेना चाहिये कि आवृत्ति के वर्णों की संख्या एवं आवृत्ति के प्रयोग की संख्या के आधार पर आवृत्ति के कई भेद हो जाते हैं। एक वर्ण या शब्द की एक बार, कई वर्णों या शब्दों की कई बार, अनेक वर्णों की आवृत्ति एक बार अथवा अनेक बार की जाती है। इस प्रकार इसके कई रूप होंगे, इन्हें पाठक स्वतः देख सकते हैं।

नोटः—अनुप्रास और यमकादि शब्दालङ्कारों के देखने से ज्ञात होता है कि भाषा के बहुत से शब्द इन्हीं के आधार पर कल्पित किये गये हैं। एकार्थ या समानार्थ वाची बहुत से शब्द भी शब्दालङ्कारों के मूल-सिद्धान्तों के आधार पर इन्हीं के लिए रचे गये हैं। इन बातों के अतिरिक्त शब्दालङ्कारों से कवि-हृदय में प्रायः नवीन भावों या विचारों का भी नवोदय सा हो जाया करता है, यह अनुभव-सिद्ध बात है।

अभ्यास

(१) शब्दालङ्कारों के मुख्य ६ भेद याद करो।

(२) आवृत्ति के मुख्य रूपों पर ध्यान रख कर जो वर्गीकरण यहाँ किया गया है उसे समझा कर लिखो।

(३) सार्थक और निरर्थक आवृत्ति के विषय में यहां जो बातें बताई गई हैं उन्हें स्पष्ट लिखो।

(४) शब्दालङ्कार की परिभाषा को समझाते हुए अपनी भाषा में प्रगट करो।

(५) शब्दालङ्कारों की आवश्यकता के लिये तुमने यहाँ क्या पढ़ा है।

शब्दालङ्कार-विवेचन

शब्दालङ्कारों में सब से प्रधान अनुप्रास है। यह शब्द, अनु (उपसर्ग) = पीछे या बारम्बार, प्रा (उपसर्ग) = प्रकर्षता से तथा अस (धातु) = होना या रहना से बनता है और इस प्रकार इसका अर्थ है बारम्बार प्रकर्षता या बहुतायत से शब्दों या वर्णों का होना, रहना या आना अर्थात् उनकी आवृत्ति होना अस्तु।

अनुप्रास सम्बन्धी वर्णों के स्वर चाहे परस्पर मिलते हों या न मिलते हों, इसका विचार नहीं किया जाता। यदि इसे भी ध्यान में रक्खें तो स्वर-साम्य-मूलक और स्वर-वैषम्य मूलक दो भेद और हो जायँगे।

शब्दों के आदि, मध्य, एवं अन्त के वर्ण या वर्णों की आवृत्ति करने से अनुप्रास के तीन रूप हो जाते हैं :—अ—आद्यनुप्रासः—जहाँ शब्दों के आदिगत वर्ण (एक या कई बार) मिलते हों। ब—मध्यानुप्रासः— जहाँ शब्दों के मध्यगत वर्ण मिलते हों (यह रूप अन्य दो रूपों के अन्तर्गत ही सा है और असली रूप में बहुत ही कम पाया जाता है) स—अन्तानुप्रासः—जहाँ शब्दों के अन्तिम वर्णों की एक या कई बार आवृत्ति हो।

नोटः—अनुप्रास के उक्तभेद अलंकार-शास्त्र में इस प्रकार नहीं पाये जाते, यद्यपि इनका यह क्रम स्वाभाविक, सरल और स्पष्ट है। जो

भेद पाये जाते हैं, (जिनका वर्णन हम आगे करेंगे) वे, यदि ध्यान पूर्वक देखा जाय, इन्हीं के अन्दर आते हैं।

अनुप्रास में वर्णावृत्ति के मुख्य रूप यों हो सकते हैं :—

(१) आदि के एक वर्ण की आवृत्ति एक बार
(२) ,, ,, कई बार
(३) ,, कई वर्णों की आवृत्ति एक बार
(४) ,, ,, कई बार

इसी प्रकार मध्य और अन्त वाले वर्णों की आवृत्ति के भी रूप होंगे। शिक्षक को चाहिये कि वे इसे स्वतः समझा दें।

---

(१) छेकानुप्रास

बन्दौं गुरु-पद-पद्म-परागा।
सुरुचि सुवास-सरस-अनुरागा॥

उक्त पदों में जो शब्द-संगठन की सुन्दरता प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ती है वह यह है कि एक या कई वर्ण (शब्दों के आदि वाले या अन्त वाले) दुबारा फिर आये हैं अर्थात् उनकी दो बार आवृत्ति हुई है। जहाँ ऐसा होता है वहाँ छेकानुप्रास माना जाता है। अस्तु :—

छेकानुप्रास—वर्णों की आवृत्ति का वह रूप है जिसमें एक वर्ण या उनके वर्णों की, चाहे वें शब्द की आदि में हों या अन्त में हों, एक ही बार आवृत्ति हो।

नोटः—इस आवृत्ति में स्वर-साम्य चाहे हो या न हो, विचरणीय नहीं।

"एक वर्ण के बहुत की, आवृति जहँ इक बार।

सो छेकानुप्रास है, आदि-अन्त निरधार॥"

शब्द के आदि वाले एक वर्ण या कई वर्णों की आवृत्ति जहां स्वर-साम्य या स्वर-वैषम्य से एक अथवा कई बार होती है वहां आद्यानुप्रास जानना चाहिये। छेक इसी का एक विशेष रूप है।

इसके चार रूप हो सकते हैं:—

१—आदि के एक वर्ण की आवृत्ति एक बार—

यथाः–चित चञ्चल है।

२—आदि के कई वर्णों की आवृत्ति एक बार—

यथाः–कमल कमनीय है।

३—अन्त के एक वर्ण की आवृत्ति एक बार—

यथाः–हम दम भरते हैं।

४—अन्त के कई वर्णों की आवृत्ति एक बार—

यथाः–गागर में सागर तुलसी ने भरा है।

स्वर-साम्य और स्वर-वैषम्य से प्रत्येक के दो दो रूप और हो जावेंगे।

नोटः—जहाँ शब्दों के अन्तिम वर्ण या वर्णों की आवृत्ति एक

या अनेक बार स्वर-साम्य या स्वर-वैषम्य से हो वहाँ अन्तानुप्रास माना जाता है, छेक इसका भी एक रूप है।

अभ्यास

(१) याद करो:—आद्यनुप्रास और छेक अनुप्रास की परिभाषायें।

(२) उदाहरण देकर बतलाओ आद्यनुप्रास और छेक अनुप्रास का अन्तर।

(३) बताओ छेका-नुप्रास यहां किन शब्दों में है:—

सुनत भरत-बर बैन, मुदित भये पुरजन सबै।
जात न जानी रैन, प्रेम-नेम-पूरित महा॥
जन-रंजन-भंजन-दनुज, मनुज-रूप सुर-भूप।
विश्व-बदर इव, धृत उदर, जोवत सोवत सूप॥

---

(२) वृत्त्यनुप्रास

सुन्दर सुमनों के सुखद सौरभ से सौरभित यह कानन-कुंज कैसा कमनीय है।

धरम-धुरीन धीर-नय-नागर।
सत्य-सनेह-सील- सुख-सागर॥

उक्त पंक्तियों के शब्दों पर दृष्टि डालते ही यह ज्ञात हो जाता है कि प्रथम पंक्ति में प्रत्येक शब्द स से और क से प्रारम्भ होता है। इसी प्रकार चौपाई में शब्दावली ध, न और स से

प्रारम्भ होती है। यह भी स्पष्ट है कि वर्णों की आवृत्ति यहाँ कई बार हुई है, अस्तु ऐसे स्थान पर वृत्यनुप्रास माना जाता है। अतः —:

वृत्यनुप्रास :— अनुप्रास का वह रूप है, जिसमें एक वर्ण या कई वर्णों की (वृत्ति के अनुसार) दो या दो से अधिक बार आवृत्ति होती है। वर्णों में चाहे स्वर-साम्य हो या न हो, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता।

नोटः—स्वर-साम्य अथवा स्वर-वैषम्य तथा एक या अनेक वर्णों पर विचार रखने से इसके चार रूप हो सकते हैं।

वर्णों एवं शब्दों की विशिष्ट रचना रीति-को वृत्ति कहा गया है। वृत्तियाँ तीन है :— (१) उपनागरिका—जिस शब्द-संगठन या वर्ण-समुच्चय में माधुर्य्य गुण वाले मधुर और मंजुल-वर्णों की प्रधानता होती है तथा जिसमें सामाकिक-पद नहीं रहते अथवा स्वल्पाकार सामासिक-पद रहते हैं उसे उपनागरिका वृत्ति की रचना कहते हैं।

मधुर वर्ण हैं :—णकार रहित ट वर्ग को छोड़ कर शेष वर्गों के सभी वर्ण तथा सानुस्वार एवं ह्रस्व वर्ण। ऐसे शब्द-संगठन की रचना में जहाँ उक्त रूप से अनुप्रास का चमत्कार रक्खा जाता है, वहाँ उपनागरिका मूलक वृत्यनुप्रास माना जाता है। इसका प्रयोग शृङ्गार, करुणा, हास्य तथा शान्त-रस में विशेष उपयुक्त ठहरता है। यथा :–

शोभा-शील-सुभग दोउ बीरा। मधुर-मनोहर मूरति जोही। आदि—यहाँ आवृत्ति के सभी वर्ण मधुर और मंजुल हैं।

(२) कोमला :—जिस रचना-रीति में मृदुल-वर्ण, साधारण आकार के सामासिक पद एवं उपस्वर (य, व, र, ल) विशेष हों, उसे कोमलावृत्ति की रचना कहते हैं। इस वृत्ति की रचना में जब उक्त अनुप्रास का चमत्कार रक्खा जाता है तब कोमला-वृत्ति मूलक अनुप्रास माना जाता है। इसमें प्रसाद-गुण की प्रधानता होनी चाहिये। यह वृत्ति अद्भुत एवं वीभत्स-रस के लिये विशेष उपयुक्त है।

विरति-विवेक-विनय-विज्ञाना।
बोध यथारथ बेद-पुराना ॥१॥
श्यामल गौर किशोर बर, सुन्दर सुखमा-ऐन।
देव वन्दनी के निमि-वंस-नंदिनी के जुग,
नीके पद-कंज मिथिलेश-नंदिनी के हैं ॥

यहाँ सानुप्रासिक वर्ण कैसे कोमल और सरल हैं।

(३) परुषा :—ओज गुण वाले कठिन या महाप्राण वर्णों, दीर्घ-समासों और क्लिष्ट-शब्दों वाली रचना-रीति को परुषावृत्ति मूलक वृत्यनुप्रास कहते हैं।

ओजगुण वाले वर्ण हैं :—प्रत्येक वर्ग के प्रथम और तृतीय वर्णों के संयुक्त रूप, द्वितीय और चतुर्थ वर्ण टवर्ग (ण रहित) श, ष तथा रकारयुक्त वर्ण। यह वृत्ति वीर, रौद्र और भयानक-रस के उपयुक्त ठहरती है।

ध्यान रखना चाहिये कि इन वृत्तियों का सम्बन्ध गुणों और रसों से होते हुए भी, इन्हें गुण या रस का सम्बन्धी नहीं मानते। इसी प्रकार वृत्यनुप्रास को रसालङ्कार भी नहीं कहते क्योंकि इसमें वर्ण-गत आवृत्ति का ही चमत्कार प्रधान रहता है। वृत्तियों का सम्बन्ध व्याकरण की समास-प्रक्रिया से भी है।

यथाः— बक्र बक्र करि, पुच्छ करि, रुष्ट रिच्छ, कपि-गुच्छ।
सुभट ठट्ट घन घट्ट सम, मर्दहिं रच्छन तुच्छ॥

यहाँ परुष एवं (कठोर) संयुक्त वर्णों की आवृत्ति का प्राधान्य है और पदावली ओज-पूर्ण, वीर रसोत्कर्षक है। ध्यान रहे कि यह अनुप्रास भी आद्यनुप्रास तथा अन्तानुप्रास का विशेष रूप है।

अन्तरः—छेक की अपेक्षा इसमें यह विशेषता और है कि इसमें आवृत्ति एक ही वार न होकर कई वार होती है और वृत्तियों से प्रभावित रहती है, जैसा छेक नहीं होता।

नोटः—यह स्मरणीय है कि इन अनुप्रासों की आवृत्ति में विषम-वर्णों का अधिकता से बीच बीच में आ जाना अनुपयुक्त और अरुचिकर होता है। जहाँ एक से अधिक वर्णों की आवृत्ति हो वहाँ यथा-क्रमता भी आवश्यक है यद्यपि नियम में ऐसा विधान नहीं और यथा-क्रम आवृत्ति के रहने पर भी दोष नहीं होता।

अन्तानुप्रास और उक्त अनुप्रास

अन्तानुप्रासः—शब्दों के अन्त में जहां एक या अधिक वर्णों की स्वर-साम्य या स्वर-वैषम्य से आवृत्ति छन्द की एक पंक्ति या कई पंक्तियों में एक अथवा कई बार होती है वहाँ अन्तानुप्रास जानना चाहिए।

यदि उक्त छेक और वृत्ति अनुप्रासों को, जैसा 'पूज्य श्री 'रसाल' जी का मत है, इससे पृथक रक्खा जाय तो अच्छा है।

नोटः—अन्तानुप्रास के उस विशेष रूप को तुक कहते हैं जो छन्द की पंक्तियों (चरणों) के केवल अन्त में ही पाया जाता है और अन्तानुप्रास के समान चरणों के बीच में नहीं रहता।

"वर्ण एक कै, बहुत की, आवृति कैयो बार।
सो वृत्तानुप्रास है चलै वृत्ति-अनुसार ॥१॥
उपनागरिका, कोमला, तीजी परुषा-वृत्ति।
इनहीं के अनुसार लखि, बाँटिय वर्णावृत्ति ॥२॥

अभ्यास

अः—कंठाग्र करो—(१) प्रत्येक वृत्ति से सम्बन्ध रखने वाले वर्ण।
(२ प्रत्येक वृत्ति में समासों के रूप अथवा आकार।
(३) प्रत्येक वृत्ति के उपयुक्त रस।

बः—वृत्यानुप्रास और छेक में तुम्हें जो अन्तर मिलता है उसे स्पष्ट करो।

प्रश्नः—कौन से अनुप्रास हैं:—

राधा के वर बैन सुनि, चीनी चकित सुभाय।
दाख दुखी, मिसिरी मुरी, सुधा रही सकुचाय॥
लोपे कोपे इन्द्र लौं, रोपे प्रलय अकाल।
गिरधारी राखे सबै, गो, गोपी, गोपाल॥
जपमाला, छापा, तिलक, सरै न एकौ काम।
मन काँचै नाचै वृथा, साँचै राँचै राम॥

---

(३) श्रुत्यनुप्रास

ता दिन दान दीन्ह धन, धरणी।
गाय न जाय कछुक कुल-करनी॥

इस पंक्ति के सुनने से ही यह ज्ञात हो जाता है कि इसमें ऐसे वर्णों का प्राधान्य है जो दन्त एवं कंठ आदि एक ही स्थान से बोले जाते हैं। पहिली पंक्ति के वर्ण तो दाँतों की सहायता से और दूसरी के वर्ण कंठ और तालु की सहायता से बोले जाते हैं। अस्तुः—

श्रुत्यनुप्रासः—रचना का वह चमत्कार है जिसमें एक ही स्थान से उच्चरित होने वाले वर्णों का प्राधान्य रहता है।

नोटः—ध्यान रखना चाहिये कि इसमें अनुप्रास के समान वर्णों की आवृत्ति नहीं होती, किन्तु वर्णों के उच्चारण-स्थान की आवृत्ति होती है, अर्थात् वैषम्य के साथ ऐसे वर्णों का प्रयोग विशेष किया

जाता है। जिनका उच्चारण स्थान एक ही है। देखने में तो इसका चातुर्य्य नहीं जान पड़ता किन्तु सुनने और बोलने में मालूम पड़ता है। यह उच्चारण-साम्य पर आधारित है जिसका ज्ञान कानों को होता है। इसी लिये इसका नाम श्रुत्यनुप्रास है। इसका सम्बन्ध वर्ण-मैत्री से विशेष है। यह प्राचीन ग्रन्थों में नहीं पाया जाता। उच्चारण-स्थान के भेद से इसके ६ रूप हो सकते हैं। उच्चारण-स्थान के साम्य से वर्णों का वर्गीकरण किसी भी व्याकरण-ग्रन्थ में देखा जा सकता है।

उच्चारण के साम्य से, वर्ण-संगठन होय।
बस श्रुत्यानुप्रास कवि, 'सरस' बतावत सोय॥

अभ्यास

(१) अनुप्रास और श्रुत्यनुप्रास का अन्तर अच्छी तरह समझाओ।

(२) इस अनुप्रास का ज्ञान किस इन्द्रिय को और क्यों होता है।

तुक

जैसा ऊपर कहा गया है, तुक अन्तानुप्रास का वह विशेष रूप है जो स्वर-साम्य के साथ यथाक्रमता से छन्द के चरणों के अन्त में ही पाया जाता है। यथाः—

यद्यपि जन्म कुमातु तें, मैं शठ सदा सदोस।
आपन जानि न त्यागिहैं, मोहिं रघुवीर-भरोस॥

यहाँ प्रत्येक चरण के अन्त में ही सस्वर वर्णावृत्ति मूलक अन्तानुप्रास मिलता है, यही तुक है।

नोटः—तुक हिन्दी-काव्य की अपनी मौलिक-रीति है। इसी की देखा-देखी उर्दू वालों ने भी अपने यहां इसका व्यवहार किया है और उसे वे 'क़ाफ़िया' कहते हैं। इससे छन्द में एक विशेष प्रकार की रोचकता आ जाती है। तुक को चरणान्तानुप्रास कहना चाहिए। कुछ लोगों ने तुक और अन्तानुप्रास को एक ही माना है, किन्तु वास्तव में दोनों में भेद है। तुक चरणान्त में ही समिति रहता है और अन्तानुप्रास समस्त छन्द में स्वच्छन्द विचरण करता है।

भेदः—तुक के मुख्यतः निम्न रूप होते हैंः—

(१) सर्वान्त्य—जो तुक समानता से सभी चरणों में हो, यथा कवित्त एवं सवैय्या आदि में।

(२) विषमान्त—जो विषम-संख्या वाले चरणों में हो, अर्थात् प्रथम और तृतीय चरणों के ही अन्त में पाया जाय। यथा—सोरठे में।

(३) समान्त—जो सम-संख्या वाले चरणों अर्थात् द्वितीय एवं चतुर्थ चरणों में समता के साथ पाया जावे। यथा दोहे में।

(४) मिश्रित—समान्त और विषमान्त दोनों का मिश्रित रूप है। इसके दो रूप हैं।—

अः—समान्त-विषमान्तः—जो सम और विषम दोनों प्रकार के चरणों में हो, अर्थात् प्रथम और तृतीय में तुक-साम्य हो एवं उसी प्रकार द्वितीय और चतुर्थ में भी हो। यथाः—

जेहि सुमिरत सिधि होय, गणनायक करिवर-बदन।
करहु अनुग्रह सोय, बुद्धि-रासि सुभगुण-सदन॥

ब:—सम-विषमान्तः—जो सम और विषम अर्थात् प्रथम और द्वितीय एवं तृतीय और चतुर्थ चरण में पाये जाँय। यथा चौपाई और हरिगीतिका आदि में।

नोट:—तुक के उक्त भेद उसके छन्द के चरणगत स्थानों पर आधारित हैं। तुकान्त हीन या भिन्न-तुकान्त-शैली से भी रचना होती है। संस्कृत में इसी शैली का विशेष प्रयोग हुआ है। वर्णिक-छन्दों में यह शैली उपयुक्त ठहरती है, मात्रिक में नहीं।

भिखारी दास के अनुसार तुक के निम्न भेद हैं:—

१—उत्तमः—जो चरणान्त में कई वर्णों की स्वर-साम्य के साथ यथाक्रमता से समावृत्ति के रूप में हो।

२—मध्यमः—जिसमें केवल दो वर्णों की ही आवृत्ति हो और संयुक्त वर्णावृत्ति तथा स्वर-साम्य का पूर्ण विचार न किया जाय।

३—अधमः—जहाँ केवल अन्त के एक वर्ण की ही आवृत्ति हो अथवा केवल अंतिम स्वरों में ही साम्य हो या स्वर-वैषम्य से केवल एक एक वर्ण में ही साम्य हो।

नोट:—इनमें से प्रत्येक के तीन तीन भेद हैं देखो "अलंकार-पीयूष" के पूर्वार्ध में।

मात्राओं की संख्या के आधार पर भी (स्वर-साम्यमय वर्णावृत्ति के साथ) तुक के निम्नांकित भेद किये गये हैं:—

१—उत्तमः—जिसमें वर्णावृत्ति के साथ ५ मात्राओं तक स्वरसाम्य हो।

२—मध्यमः—जिसमें वर्णावृत्ति के साथ ४ मात्राओं तक साम्य हो।

३—निकृष्टः—अन्तिम वर्ण या वर्णों की आवृत्ति में जहाँ केवल ३ मात्राओं तक ही साम्य हो।

४—अधमः—जहाँ केवल अन्त की एक ही मात्रा या स्वर में साम्य हो।

नोटः—इसे स्वरावृति कहना चाहिये। इसका उपयोग प्रायः उर्दू में विशेष होता है।

उक्त विवेचन उस तुक का है जो वर्णावृत्ति से ही सम्बन्ध रहता है। जहाँ तुक में समार्थ या भिन्नार्थ के साथ शब्दावृत्ति प्रधान होती है वहाँ शब्दावृत्ति मूलक तुक जानना चाहिए।

अभ्यास

(१) चरणों के स्थान-भेद से तुक के कौन कौन से भेद तुमने पढ़े हैं?

(२) भिखारी दास के भेदों की संक्षिप्त व्याख्या करो।

(३) मात्राओं की संख्या के विचार से तुक के यहाँ कितने भेद दिये गये हैं? स्पष्ट लिखो।

(४) अन्तानुप्रास और तुक में क्या साम्य और क्या भेद है समझा कर बताओ।

---

(४) यमक

कलित-कुंचित-केश-कलाप से,
मधुप-राजि पराजित सी हुई।

यहाँ द्वितीय-पंक्ति में पराजि की आवृत्ति हुई है। तीनों वर्ण यथाक्रम और पूर्ण साम्य के साथ आवृत्ति में आये हैं। इसी प्रकारः—

भजन कह्यो तासौं भज्यो, भज्यो न एकौ बार।
दूर भजन जासौं कह्यो, सो तैं भज्यो गँवार॥

इन पदों में भजन और भज्यो पदों की आवृत्ति हुई है (अर्थ-पार्थक्य के साथ) अस्तु, ऐसी आवृत्तियों को यमक कहा गया है, इसलियेः—

यमकः—आवृत्ति मूलक वह शब्दालङ्कार है जिसमें स्वर-साम्य तथा यथाक्रमता के साथ एक वर्ण-समुदाय या शब्द की आवृत्ति होती है।

नोटः—यथाक्रमता और स्वर-साम्य का रहना इसमें अनिवार्य्य है। अन्तानुप्रास और तुक को इसके विशेषरूप समझना चाहिये।

भेद

यमक के दो मुख्य भेद हैं—(१) **वर्णात्मकः**—जहाँ स्वर-साम्य और यथाक्रमता के साथ एक वर्ण-समुदाय की (जिससे कोई सार्थक-शब्द बनता हो या न बनता हो) आवृत्ति होती है।

(२) शब्दात्मक:—जहाँ स्वर-साम्य के साथ सार्थक-शब्द बनाने वाले वर्ण-समुदाय, शब्द अथवा पद की यथाक्रम आवृत्ति हो।

उक्त प्रथम उदाहरण में 'पराजि' जिसकी आवृत्ति हुई है कोई अर्थ नहीं रखता। द्वितीय उदाहरण में 'भजन' और 'भज्यो' जिनकी आवृत्ति हुई है, सर्वथा सार्थक हैं।

नोट:—वर्णावृत्ति का एक रूप वहाँ भी होता है जहाँ आवृत्ति वाला वर्ण-समूह कहीं एक स्थान पर निरर्थक और दूसरे स्थान पर सार्थक हो।

यथाः—'है समर समरस सुभट मरुपति, वाहिनी विख्यात'।

यहाँ आवृत्ति मूलक 'समर' एक स्थान पर सार्थक है और दूसरे स्थान पर शब्दांश होकर सार्थक नहीं है।

जहाँ आवृत्ति मूलक वर्ण-समूह एक स्थान पर स्वतंत्र शब्द हो कर सार्थक हो और दूसरे स्थान पर भंग किये जाने पर अथवा उसके आगे पीछे कुछ वर्णों अथवा स्वरों के जोड़े जाने पर सार्थक हो। यथा उक्त उदाहरण में 'समर' स्वतंत्र-शब्द हो कर प्रथम तो सार्थक है, फिर भंग होकर और अपने आगे एक और वर्ण 'स' को लेता हुआ 'समरस' हो सार्थक हुआ है

नोट:—कहीं कहीं यमक-मूलक-शब्द अपने आगे पीछे किसी वर्ण को लेकर विशेष अर्थ देने लगता है। यथाः—देव गननायक विनायक निवाजैं हैं। यहाँ 'नायक' शब्द 'बि' से मिला कर अपना विशेष अर्थ देता है।

जहाँ अर्थ-पार्थक्य के साथ शब्द की आवृत्ति होती है, हिन्दी के कवियों ने वहीं वास्तविक यमक मानी है। इस प्रकार के यमक के दो भेद हैं:—

(१) सभंग:—जहाँ शब्द या पद को तोड़ कर अथवा उसके आगे पीछे वर्ण बढ़ा कर (और यों एक नया शब्द बना कर) अर्थ-पार्थक्य के साथ आवृत्ति की जाती है। यथा:—

"तू मोहन के उर-बसी ह्वै उरबसी समान" यहाँ उरबसी पद के तोड़ देने पर अर्थ दूसरा होता है।

(२) अभंग:—जहाँ पद को बिना तोड़े ही अर्थ-पार्थक्य के साथ शब्दावृत्ति हो। यह रूप अनेकार्थ वाची शब्दों पर ही आधारित रहता है। यथा:—"उठै चित में चमक सो चमक चपला की है।" यहाँ चमक शब्द की आवृत्ति है, और वह बिना तोड़े ही अपना दूसरा अर्थ (दर्द) देता है।

नोट:—यमक-अलंकार सबसे प्राचीन-अलंकार है और कवियों को बहुत प्रिय है। भरत मुनि ने इसे 'पदाभ्यास' की संज्ञा दी है। प्राचीन काल में इसका प्रयोग बहुत किया जाता था। अँग्रेज़ी में इसे Pun और उर्दू में तज़नीस ज़ायद कहते हैं।

"अर्थ प्रथक स्वर-क्रम सहित, वर्णावृति जहँ होय।
त्यों ही शब्दावृत्ति हू, 'सरस' यमक है सोय॥"

अभ्यास

(१) बताओ यमक कहाँ है:—

नाम धरायो निवारी कहा, जुपै पीर अधीर की नाहिं निवारी।
'सरस' बखानै ये वियोगिनी हैं योगिनी सी,
इन्हैं कल पाय। कलपाय कौन सोवै है।

× × × ×

सुरसरि रावरी करैगो सुर-सरि कौन,
आइकै सरस्वति हूँ तोहिं कौं भजै लगी।
अधम उधारति त्यों धारति है पापिन कौं,
सुकृति सुधारि सुधा-धारि उपजै लगी॥

(२) यमक के भेद उनके लक्षणों सहित याद करो।
(३) उदाहरण देकर 'सभंग-यमक' की व्याख्या करो।

---

(५) वीप्सा

राम राम रटि विकल भुआलू।
त्राहि त्राहि रघुवंश-मणि, त्राहि त्राहि अब मोहिं।

उक्त पंक्तियों में राम और त्राहि पदों की आवृत्ति एक ही अर्थ में हुई है और यह केवल इसीलिये जिससे पद में विशेष बल आ जाय। साधारणतः भी हम कहा करते हैं, कि हँसते हँसते पेट फूल गया'। इस प्रकार शब्द की आवृत्ति केवल विशेष बल या ज़ोर लाने के लिये ही की जाती है और जहाँ ऐसा होता है वहीं वीप्सालंकार माना जाता है। अस्तुः—

वीप्साः—जहाँ विस्मय, आश्चर्य एवं हर्ष आदिक मनो-भावों, या आकस्मिक-भावनाओं के प्रगट करने के लिए

शब्दों, अथवा पदों पर विशेष बल देते हुये उनकी दो या अधिक बार आवृत्ति की जाती है, वहाँ वीप्सा मानी जाती है।"

नोट:—वीप्सा एक विशेष प्रकार की यमक ही है। इसमें प्रायः आवृत्ति एक ही बार देखी जाती हैं, हां कहीं कहीं अधिक बार भी आवृत्ति मिलती है।

यथा:—"राम राम कहि, राम कहि, राम राम कहि राम।"

यहां राम की कई बार आवृत्ति है।

रूप :—वीप्सा के प्रायः दो मुख्य रूप मिलते हैं:—

अ—शब्दात्मक:—जहां केवल शब्द या पद की ही आवृत्ति हो।

नोट:—इसके संज्ञा, क्रिया, अव्ययादि के भेद से कई रूप हो सकते हैं। यथा:—

(१) संज्ञागत:—जहां संज्ञा की वीप्सार्थ में आवृत्ति हो।

"रैन-दिन, आठौ याम राम, राम राम राम,
सीताराम, सीताराम, सीताराम कहिये।"

(२) क्रियात्मक :—जहां क्रिया की आवृत्ति हो। यथा:—

"दौरि हरि आय, कह्यो अबना बजावौ हाय !"
तुम पैहूँ बांसुरी बजै गली बजै लगी

पुर-बालक कहि कहि मृदुबचना,
सादर प्रभुहिं दिखावहिं रचना।

(३) अव्ययात्मक:—हर्ष, घृणा आश्चर्य, भय, विस्मयादि बोधक अव्यय-पदों की जहां आवृत्ति हो। मनोवेगों के भेद से इसके कई भेद हैं।

यथाः—सब सुर-मंडल प्रचारै नभ-मंडल तैं,
धिक धिक ऐसी कुरुराज रजपूती पै।
"कहै 'रतनाकर कहहिं सब हा! हा! खाइ,
ह्यां के परपंचनि सौं रंच न पसीजियो॥"

ब—पदात्मक: (वाक्यावृत्ति मूलक)—जहां वीप्सार्थ में मनोवेग-सूचक एक पद या वाक्य की आवृत्ति हो। यथाः—

"राम राम रट, राम राम रट, राम राम रट री रसने?
हमकौं लिख्यौ है कहा, हमकौं लिख्यौ है कहा,
हम कौं लिख्यौ है कहा कहन सबै लगीं।"

नोट:—एकाक्षर मूलक अव्ययादि की जहां वीप्सार्थ में आवृत्ति होती है वहां "वर्णावृत्ति मूलक वीप्सा" मानना चाहिये। पूज्य 'रसाल' जी का भी यही मत है। यथा:—

"रे! रे! रावण हीन-दीन कुमते!
हे! हे! यशोदे! तव बाल केशवो!

ध्यान रखना चाहिये कि यहाँ एकार्थ में जो आवृत्ति होती है वह अपनी विशिष्ट चमत्कृत चारुता के कारण गुण में रख ली गई है, और काव्य के 'पुनरुक्ति दोष' में नहीं मानी जाती।

"मनोवेग-सूचक जहाँ, पद की आवृति होय।
बात सबलता ह्वै लहै, "सरस" वीपसा सोय॥"

अभ्यास

(१) पहिचानों वीप्सा कहाँ है:—

"हरी हरी निकुंज की हरी हरी लतान मैं,
हरी हरी पुकारती हरी हरी छरी लिये।"

"जाते जाते गगन-पथ में, किन्नरी-गायनों में।"

"दिन दिन दूनी चारु चन्द्र की कला लौं नई,
तन तरुनाई लै निकाई निखरै लगी"

(२) वीप्सा और यमक की तुलना करके अन्तर निकालो।

(३) वीप्सा के कितने रूप यहाँ तुमने पढ़े हैं, उनकी स्पष्ट व्याख्या करो।

(४) वीप्सा का प्रयोग क्यों किया जाता है ?

नोटः—स्मरण रहे कि यमक में अर्थ-पार्थक्य के साथ शब्दावृत्ति होती है, किन्तु वीप्सा में शब्दार्थ पर ज़ोर देने के लिये, तथा मनोवेगों को प्रगट करने के लिये वीप्सा में वाक्या वृत्ति तथा एक वर्णावृत्ति भी होती है, यमक में ऐसी नहीं।

---

(६) पुनरुक्त-प्रकाश

"वे तौ हैं हमारे ही, हमारे ही, हमारे ही औ,
हम उनहीं की उनहीं की उनहीं की हैं।"

"मधु मास में 'दास जू' बीस बिसे'
मनमोहन आइहैं आइहैं आइहैं।"

यहाँ 'हमारे ही' 'उनहीं की' और 'आइहैं' पदों की आवृत्ति कई बार हुई है, और वीप्सा की भांति विस्मयादि मनोवेगों को बल देने के लिये नहीं, वरन केवल कथन में एक प्रकार की सुन्दरता लाने के ही लिये। हां वीप्सा की भांति शब्दावृत्ति एक ही अर्थ में अवश्य हुई है, और यमक की भांति भिन्नार्थ में नहीं। इससे अर्थ में कुछ सबलता अवश्य आ जाती है। ऐसी ही आवृत्ति जहां होती है वहां पुनरुक्ति प्रकाश माना जाता है। अस्तु :—

पुनरुक्त प्रकाश:—जहां स्पष्ट रूप से (या केवल भाव को स्पष्ट करके प्रकाशित करने के लिये) पुनरुक्ति या आवृत्ति की जाती है और इस प्रकार कथन में एक विशेष प्रकार की सुन्दरता लाई जाती है, वहां पुनरुक्त प्रकाश कहा जाता है—

नोट:—वीप्सा की भांति इसके भी शब्दात्मक तथा पदात्मक रूप हो सकते हैं और संज्ञा, क्रियादि के आधार पर कई भेद हो सकते हैं। अँग्रेज़ी में इसे Tautology और उर्दू में तजनीस मुकर्रर कहते हैं। इसे दास जी ने अलंकार न मान कर एक काव्य-गुण माना है और शब्द की अनेक बार आवृत्ति को विशेषता दी है, ठीक भी यही है। वीप्सा में प्राय: दो बार आवृत्ति होती है, इसमें कई बार।

"कथन-रुचिरता-हित जहाँ, शब्दावृति बहु बार।
तहँ पुनरुक्त प्रकाश कह, 'सरस' सुकवि सरदार॥

नोट:—बहुत ही थोड़े आचार्यों ने इसे लिया है, और सबने इसे छोड़ दिया है। इसे शब्दावृत्ति मूलक अनुप्रास में मानना चाहिये।

अभ्यास

(१) पुनरुक्ति प्रकाश का प्रयोग दिखलाने को कुछ अपनी ओर से उदाहरण दो।

(२) वीप्सा और यमक से इसमें क्या विशेषता है, स्पष्ट रूप से लिखो।

(३) बताओ यहाँ वीप्सा है या पुनरुक्ति प्रकाशः:—

अः—जोग जोग कबहूँ न जानै कहा जोहि जकौ,
ब्रह्म ब्रह्म कबहूँ बहकि बररात हौ ॥

बः—कहि कहि कोटिन कपट-विधि। जै जै जै गिरिराज-किशोरी।

सः—बहि बहि हाथ चक्र ओर ठहि जात नीठि,
रहि रहि तापै बक्र दीठि पुनि धावै है ॥

दः—आली री! वा मुख की मुसुकानि,
बिसारी न जैहै न जैहै न जैहै।

---

(७) सिंहावलोकन

आवन लागी समा सुखमा, कुसुमाकर की छबि छावन लागी।
छावन लागी छटाहू नई, उनई मुधुपावलि आवन लागी ॥

उक्त पद में यहाँ जिस शब्द से छन्द प्रारम्भ होता है उसी शब्द से वह समाप्त भी होता है तथा जो शब्द अथवा तुकान्त पद चरण के अन्त में आता है वही अपने आगे आने वाले चरण के आदि में भी प्रयुक्त किया जाता है, इसी आवृत्ति-चमत्कार को सिंहावलोकन कहते हैं अतः—

सिंहावलोकन:—आवृत्ति-मूलक वह चमत्कार है जिसमें छन्द के श्रीगणेश और इतिश्री दोनों में एक ही शब्द या वर्ण-समूह की आवृत्ति पाई जाती है तथा जिसके प्रत्येक चरण का तुकान्त-मूलक अन्तिम पद या वर्ण-समूह आगे आने वाले चरण के आदि में भी आता है।

नोट:—इसे कुछ आचार्य्यों ने मुक्तपद ग्राह्य यमक कहते हुए यमक का एक विशेष रूप माना है और यह ठीक है क्योंकि इसमें छोड़े हुए पद को आगे फिर ग्रहण किया जाता है। ध्यान देने की बात है कि इसमें छन्द के आदि में भी चरणान्त तुक के समान आवृत्ति मूलक चारुता रहती है। इसका उपयोग घनाक्षरी, सवैया जैसी कुछ ही छंदों में किया जाता है।

इसके मुख्य दो रूप होते हैं–(१) **वर्णावृत्ति मूलक:**—जहाँ एक वर्ण-समूह की आवृत्ति (चाहे वह सार्थक हो या निरर्थक) होती है। यथा :—

"छायो है प्रखर ताप-दाप को प्रताप-पुञ्ज,
कुंज औ निकुंज लूक-हूकनि सतायो है।
तायो है तवा सों जासों भूतल भभकि भूरि,
नीरस निदाघ कोपि जग बिकलायो है॥
लायो है मयूखनि मयूख भरि भानु इतै,
अगिन दिसा सौं कहै कोऊ कढ़ि आयो है।
आयो है तहाँ ते रवि-स्यंदन-सुवर्न तप्यो,
ताको ताप चारौ ओर यौं 'रसाल' छायो है॥"

(२) शब्दावृति मूलकः—जिसमें एक सार्थक शब्द (अर्थ-साम्य या अर्थ-वैषम्य से) की आवृत्ति होती है। यथा प्रथम उदाहरण में।

नोटः—इसका पदावृत्ति मूलक रूप भी हो सकता है, किन्तु यह बहुत ही कम पाया जाता है। इस अलंकार को उर्दू में "सना अतइरसाद" कहते हैं। ध्यान रहे कि इसमें शब्दावृत्ति होने पर भी वीप्सा, पुनरुक्त प्रकाशादि नहीं रहते क्योंकि आवृत्ति भिन्न २ चरणों में होती है, एक ही में नहीं।

अभ्यास।

१. सिंहावलोकन का लक्षण यहाँ क्या दिया गया है, समझा कर लिखो।

२. वीप्सा और इसकी शब्दावृत्ति में क्या अन्तर है? स्पष्ट लिखो।

३. सिंहावलोकन की क्या विशेषता है, क्या इसे आद्यन्त-तुक-मूलक कह सकते हैं?

४. इसे किस अलंकार का एक विशेष रूप माना गया है और क्यों?

५. इसके कितने मुख्य रूप होते हैं, स्पष्ट लिखो।

---

(८) पुनरुक्तवदाभास

"सुघर हमारो है जहाँ, सुघर देस है सोय" १

बन्दनीय केहि के नहीं, वे कविन्द मतिमान।

सुरग गये हूँ काव्य-जस, जिनको जगत जहान॥

उक्त पंक्तियों में जगत जहान आदि पदों या शब्दों को देखकर यह जान पड़ता है कि वे एक ही अर्थ के लिये प्रयुक्त हुये हैं, क्योंकि वे या तो एक ही शब्द हैं, या पर्य्यायी वाचक हैं। किन्तु वास्तव में यह बात नहीं, उन शब्दों के अर्थ भिन्न हैं। केवल ऊपर ही से शब्दार्थ की पुनरुक्ति सी जान पड़ती है, पुनरुक्ति का आभास मात्र यहां है, यथार्थ में पुनरुक्ति है नहीं। ऐसे स्थलों पर, इसीलिये "पुनरुक्तवदाभास (पुनः = फिर से + उक्त = कहा हुआ + वत = समान + आभास अर्थात् कहे हुये का फिर आभास सा) माना जाता है। अतः—

पुनरुक्तवदाभासः—जहाँ कहने, सुनने या देखने में तो शब्दार्थ की पुनरुक्ति सी जान पड़े किन्तु यथार्थ में अर्थ-पार्थक्य हो और पुनरुक्ति न हो।

नोटः—ध्यान रहे कि इसके लिये दो स्वतंत्र एवं पृथक शब्द ऐसे होने चाहिये जो पर्यायी बाचक (एकार्थ-सूचक) होते हुए भी भिन्न २ अर्थों के द्योतक हों (एक शब्द अनेकार्थ बाचक होकर दूसरे शब्द से भिन्न अर्थ दे) हिन्दी में इसी लक्षण को प्राधान्य दिया गया है। यदि विचार पूर्वक देखिये तो इसमें न तो इस प्रकार शब्दा-

वृत्ति ही होती है और न अर्थावृत्ति ही, हां अर्थावृत्ति का कुछ आभास सा अवश्यमेव जान पड़ता है। इसमें श्लेष की पुट सी रहती तथा अर्थ-पार्थक्य का ही चमत्कार रहता है, अस्तु इसे शब्दालंकार न मान कर अर्थालंकार ही मानना चाहिये। यदि इसे शब्दालंकार मानें तो इसमें अर्थ-पार्थक्य के साथ शब्दावृत्ति ही होनी चाहिये। इस दशा में इसे शब्दावृत्ति-मूलक यमक से पृथक करने के लिये सदैव अभंग रूप में ही रखना पड़ेगा। साहित्य-दर्पण में ऐसा ही किया गया है।

इसके दो रूप हो सकते हैं :-

(१) शब्दावृत्ति मूलकः—जहाँ अर्थ-वैभिन्य से शब्दावृत्ति हो। यथा उदाहरण नं० १ में सुघर की आवृत्ति का आभासहै।

(२) अर्थावृत्ति मूलक—जहाँ भिन्नार्थ रखने वाले एक शब्द के अर्थ की आवृत्ति का आभास उसके पर्यायीवाची किसी दूसरे शब्द के अर्थ में जान पड़े, किन्तु वस्तुतः वैसा न हो यथा उदाहरण नं० २ में]

अभ्यास

(१) देखो पुनरुक्तवदाभास कहाँ है :—

"क्यों न होय छितिपाल सों, नीतिपाल जग एक।
जाके निकट जु रहत हैं, सुमनस विबुध अनेक।"

"पुनि फिर राम निकट सो आई।

अली भौंर गूँजन लगे, होन लगे दल-पात ।
जहँ तहँ फूले रूख तरु, प्रिय प्रीतम किमि जात ॥

(२) पुनरुक्तवदाभास का लक्षण समझा कर लिखो—

(३) इसमें क्या विशेषतायें स्मरणीय हैं ?

(४) लक्षण इसके शब्द से ही निकालो ।

---

(६) लाटानुप्रास

"दीन चित चातक लखै क्यों घन स्याम ओर,
गरज न जानै अरे ! गरज न जानै ये ।"
"नाचत "रसाल" मन मोर हरियारी माहिं ,
नाचत इतै है मन मोर हरियारी मैं ।"

उक्त दोनों चरणों से यह स्पष्ट ही है कि इनमें एक एक वाक्य (वाक्यांश) की आवृत्ति हुई है किन्तु दोनों के अर्थों (तात्पर्यों) में भेद है। देखने में तो दोनों में एक ही या समान अर्थ सा ज्ञात होता है अर्थात् अर्थावृत्ति का आभास प्रतीत होता है किन्तु वास्तव में ऐसा है नहीं । प्रथम में पहिले गरजन जानै का अर्थ है गरजना जानते हैं फिर भाव है गरज़ या मतलब नहीं जानते । इसी प्रकार द्वितीय में आवृत्ति-सम्बन्धी प्रथम वाक्य हरियारी या हरी भूमि पर मोर का मन नाच रहा है ऐसा भाव रखता है फिर मेरा मन प्रभु-प्रेम में नाचता है या प्रसन्न हो रहा है यह तात्पर्य देता है ।

अस्तु इस प्रकार जहाँ पर चमत्कार के साथ एक ही वाक्य या वाक्यांश (Phrase or Clause) तात्पर्यान्तर या अर्थ-पार्थक्य के साथ एक या अधिक बार आया हो वहाँ लाट-अनुप्रास कहा जाता है। इसलिये :—

"लाटानुप्रास वाक्यावृत्ति-मूलक वह चमत्कार है जिसमें एक पूर्ण पद (Phrase or clause) या वाक्य की आवृत्ति एक या कई बार हो और ऊपर से तो अर्थावृत्ति का आभास प्रतीत हो किन्तु वास्तव में तात्पर्य से अन्तर रहे।"

सूचना:—ध्यान रखना चाहिये कि यह पद या वाक्य की आवृत्ति को ही प्रधानता देता है, अस्तु इसे **वाक्यावृत्ति मूलक अनुप्रास** मानना चाहिये, इसमें पद या वाक्य के साथ अर्थ की भी आवृत्ति का आभास रहता है किन्तु वस्तुतः तात्पर्यान्तर से अर्थ-पार्थक्य ही रहता है, यह कई प्रकार से होता है १-किसी शब्द को भंग करने से २-अनेकार्थवाची शब्द के प्रयोग से ३-अन्वयान्तर से तथा ४-श्लेषादि अन्य अलङ्कारों की सहायत से अर्थान्तर हो जाता है।

अतः इसके ३ तीन रूप यों हो जाते हैं :—

(१) **तात्पर्यान्तर-मूलक:**—तीरथ-व्रत साधन कहा,
जो निशिदिन हरि-गान।
तीरथ-व्रत साधन कहा, बिन निसिदिन हरि-गान।

(२) अन्वयान्तर-मूलकः—मारिय जनि, यहि दीजै जाना।
मारिय, जनि यहि दीजै जाना॥

(३) शब्द-भंगात्मकः—"मोहन अब मन माहिं, है
मोह न अब मन माहिं।
"मन मों रमा नैना तौ मन मोर मानै ना।"

कहीं कहीं इसका शब्दावृत्ति मूलक रूप भी मिलता है, जिसमें एक ही शब्द की (अर्थ-साम्य या भावान्तर के साथ) आवृत्ति एक या कई बार होती है। यह शब्द या पद समासगत हो सकता है और स्वतन्त्र या बिना समास के भी हो सकता है। यदि वास्तव में देखा जाय तो इस रूप को लाट अनुप्रास न मानना चाहिये और इसे यमक का ही एक भेद समझना चाहिये। यदि शब्दावृत्ति में किसी प्रकार तात्पर्यान्तर या भावान्तर हो तो उसे लाट के अन्दर रख सकते हैं, किन्तु वास्तव में लाट में शब्दावृत्ति तो गौण और वाक्यावृत्ति ही प्रधान है।

यथाः—नव कंज लोचन कंज पद कर कंज मुख कंजारुणम्।
कृपा कृपानिधि कीजिये, दीजिय आपनि भक्ति।
चाँदनी को नीको कै हमारो चाँद नीको है।

विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यमक से लाट अनुप्रास भिन्न है क्योंकि (१) यमक में प्रायः वर्णों या शब्दों की आवृत्ति होती है किन्तु लाट में पदों और वाक्यों की।

(२) यमक की सीमा बहुत संकीर्ण है, किन्तु लाट की विस्तृत है।

(३) यमक में वर्णों की निरर्थक आवृत्ति भी होती है किन्तु लाट में ऐसा नहीं होता।

पदावृत्ति मूलक वीप्सा और लाट में यह भेद है कि वीप्सा की पदावृत्ति में अर्थान्तर नहीं होता और लाट में अर्थान्तर ही प्रधान रहता है। इसी प्रकार पुनरुक्तिप्रकाश से भी अपने अर्थान्तर के कारण यह प्रथक है।

"अर्थान्तर को संग लै, जहँ वाक्यावृति होय।
अनुप्रास ऐसो "सरस" लाट कहावत सोय॥"

अभ्यास

(१) बताओ लाटानुप्रास यहाँ कहाँ हैं और क्यों हैं।

सुत सपूत तौ है वृथा, धन संचय को खेल।
सुत कपूत तौ है वृथा, धन संचय को खेल।
औरन के जाँचे कहा, जिन जाँच्यो शिवराज।
औरन के जाँचे कहा, जु न जाँच्यो शिवराज।
होय अकिलमंदी तुरत, दलवंदी ह्वै जाय।
होय अकिल मंदी तुरत, दलवंदी ह्वै जाय।

(२) यमक से लाट में यहाँ क्या विशेषता दिखलाई गई है, स्पष्ट लिखो।
(३) पदावृत्ति मूलक वीप्सा से लाट क्यों प्रथक माना गया है।
(४) लाटानुप्रास की मुख्य विशेषतायें बताओ।
(५) कितने प्रकार से लाट अनुप्रास में अर्थान्तर किया जा सकता है।

---

(१०) श्लेषालंकार

दूर भजत प्रभु पीठ दै, गुन विस्तारन काल।
प्रगटत निर्गुण निकट ही चंग रंग गोपाल।
अजौं तर्‌यो ना ही रह्यो, श्रुति सेवत इक अंग।
नाक वास बेसर लह्यो, बसि मुकतन के संग।

उक्त पदों में गुन आदि शब्द ऐसे हैं जिनके दो अर्थ होते हैं। और दोनों अर्थ घटित भी हो जाते हैं। पहले पद का तात्पर्य यह है कि भगवान पतंग के समान गुण (डोर और गुण) के बढ़ाने पर अर्थात् अपने गुणों के प्रकाश करने पर अथवा डोर के बढ़ाने पर दूर हो जाते हैं। किन्तु गुण के कम करने पर और निर्गुण बनने पर (अपने गुणों का प्रकाश न करने पर) अथवा डोर को समेट लेने पर पास आ जाते हैं। इस प्रकार यहाँ इन शब्दों के दोनों अर्थ चरितार्थ होते हैं। यही बात दूसरे पद्य के तर्‌योना श्रुति आदि शब्दों में भी है। जहाँ ऐसा होता है वहाँ श्लेषालंकार माना जाता है। अस्तु :—

"श्लेषालंकार वहां होता है जहाँ दो वा दो से अधिक अर्थ देने वाले शब्दों अथवा नये बनाये हुये अनेकार्थ-वाची पदों का प्रयोग किया जाता है।"

टिप्पणी:—ध्यान रखना चाहिये कि यह अलंकार वहीं और तभी माना जायगा जहाँ और जब दो या अधिक अर्थों को प्रकाशित करने के लिये जान बूझ कर अनेकार्थवाची शब्दों का अस्पष्ट प्रयोग

किया जाता है। जहाँ "शब्दाः कामधेनवः" अथवा "धातूनाम् अनेकार्थत्वात्" के आधार पर भाषा-पाण्डित्य से शब्दों के अनेक अर्थ किये जाते हैं वहाँ यह अलङ्कार नहीं कहा जा सकता है। आवश्यकता सदा इस अलङ्कार में इस बात की है कि जितने भी अर्थश्लिष्ट या अनेकार्थवाची शब्दों के द्वारा किये जायँ वे सब प्रसंग के अनुसार होते हुये पूर्णतया चरितार्थ या अघटित भी होते हों।

इस अलंकार को कुछ आचार्यों ने तो शब्दालंकार और कुछ ने अर्थालंकार माना है। बहुत विवाद के पाश्चात् इसको दोनों रूपों में रखना निश्चित किया गया। भोजराज ने इसे उभयालंकार लिखा है। श्री मम्मट और हिन्दी में दास ने इसे एक प्रकार का काव्य-गुण मान कर यों दिखलाया है।

"जहाँ कई शब्दों से बने हुये सामासिक पदों की अधिकता हो वहाँ श्लेष गुण जानना चाहिये।" इस प्रकार इसे समास पर आधारित किया गया है।

इसके प्रथम दो भेद है:—

(१) शब्द-श्लेष–जहाँ ऐसे अनेकार्थवाची शब्दों की रचना हो कि जिनका अर्थान्तर-चमत्कार उनके पर्यायवाची शब्दों के रखने से जाता रहे।

यथा :—धनि दृग-तारन के जु तिल, जिनमें स्याम-सनेह।
बिना नेह के तिल किते, परे रहत हैं देह॥

यहाँ "तिल" शब्द का प्रथम आँख की पुतली के तिल के अर्थ में फिर शरीर पर काले रंग के चिन्ह-विशेष के अर्थ में

प्रयोग किया गया है, यदि इस शब्द के स्थान पर कोई इसी अर्थ का दूसरा शब्द रख दिया जाय तो चमत्कार जाता रहेगा, अस्तु यहाँ शब्द-श्लेष है।

(२) अर्थ-श्लेषः—जहाँ ऐसे अनेकार्थवाची शब्दों की योजना हो जिनके अर्थान्तर में उनके पर्यायी (समानार्थवाची) शब्दों के रख देने से कुछ भी हानि न पहुँचे और चमत्कार उसी प्रकार बना रहे।

यथाः—सगुन, सुभूषन सुभ सरस, सुबरन सुखद सुराग।
इमि कविता, अस कामिनी, लहै जो सो बड़ भाग॥

इन दोनों रूपों के साथ ही इसका एक रूप उभयाश्रितश्लेष के नाम से वहां माना जाता है जहां कई श्लिष्ट पदों या शब्दों की योजना हो और उनमें से कुछ तो शब्द-श्लेष-सम्बन्धी हों और कुछ अर्थ-श्लेष-सम्बन्धी हों। कुछ का चमत्कार तो पर्यायीवाची शब्दों के रखने से जाता रहे और कुछ का न जा सके।

नोटः—यह स्मरणीय है कि जहाँ कवि श्लिष्ट पदों की योजना अर्थान्तर का अभिप्राय रखता हुआ भी किसी विशिष्ट भाव के प्रकाशनार्थ करता है वहाँ तो साधारण श्लेष या मुद्रालंकार और जहाँ कई प्रथक भावों के प्रकाशनार्थ करता है वहाँ विशिष्ट श्लेष मानना चाहिये।

श्लेषालंकार सभी अलङ्कारों से अधिक प्रधान एवं शक्तिवान है, यह अपने प्रभाव से दूसरे अलङ्कारों को दबा देता है। इसे

इसीलिये अलङ्कारों का एक मुख्य मूल तत्व भी माना गया है।

श्लेष के दो अन्य भेद यों भी किये गये हैं :—

(१) **सभंग:**—जहां श्लिष्ट पद या शब्द के तोड़ देने से अर्थ बदल जाये।

यथा—"बहुरि शक्र-सम विनवौं तेही।
संतत सुरानीक-हित जेही॥"

यहाँ सुरानीक पद को सुर+अनीक (देवताओं की सेना) में तोड़ देने से अर्थान्तर होता है।

(२) **अभंग पद:**—जहां अनेकार्थवाची शब्द हों और अपनी विस्तृत अर्थ-शक्ति के ही प्रभाव से भिन्न भिन्न अर्थ दें। उनके तोड़ने की आवश्यकता न पड़े। ऐसे शब्दों को **उभय पर्यवसायी** भी कहते हैं। यथाः—

"चरन धरत, चिन्ता करत, चितवत चारिहु ओर।
सुबरन को खोजत फिरत, कवि, व्यभिचारी, चोर॥"

यहाँ सुबरन पद श्लिष्ट है और योंही अपना प्रथक अर्थ देता है।

नोट:—कहीं कहीं दो या अधिक शब्दों से बने हुये एक पद के भी कई अर्थ हो जाते हैं। ऐसी जगह पर पदगत श्लेष मानना चाहिये। कहीं २ शब्दयुग्म भी श्लिष्ट रूप में रक्खा जाता है। यथाः—

"काम विधि-वाम की कला मैं मीन-मेख कहा,
ऊधौ नित बसत बसंत बरसाने मैं"
"रत्नाकर"

यहाँ मीन-मेख के दो अर्थ होते हैं, बसंत में मीन-मेष राशियों में सूर्य की स्थिति और किसी बात में किन्तु-परन्तु होना।

"द्वै कि अधिक प्रगटैं जहाँ, शब्द आपनों अर्थ।
अलङ्कार तहँ श्लेष है, बरनै 'सरस' समर्थ॥"

अभ्यास

(१) श्लेषालंकार का मुख्य आधार क्या है? इसकी विशेषता भी दिखलाओ।

(२) क्या यहाँ श्लेषालंकार है :—

"जो चाहौ चटक न घटै, मैला होय न मित्त।"
रज राजस न छुवाइये, नेह चीकने चित्त।
"बिनु घनश्याम धाम धाम ब्रज मंडल मैं,
ऊधो नित बसत बहार बरसा की है।

(३) कितने भेद इसके दिखलाये गये हैं? शब्द और अर्थ सम्बन्धी रूपों में क्या अन्तर है, स्पष्ट लिखो।

(४) अभंग पद और सभंग पद से क्या तात्पर्य है? ये श्लेष पर क्या प्रभाव डालते हैं?

---

(११) भाषा-सम

'इति वदति' तुलसीदास·····

मनहु इजाफा कीन।

गारि उठ्यो गहब गरूर गरुता कौ है।

उक्त पदों में इति वदति आदि शब्द हिन्दी भाषा के न होकर संस्कृत और फ़ारसी भाषा के हैं, यह स्पष्ट ही है। जहां कवि चमत्कार-चातुर्य के साथ इस प्रकार अन्य भाषा के भाव-पूर्ण, प्रचलित, और उपयुक्त शब्दों का प्रयोग भाषा में करता है वहां भाषा-सम अलंकार माना जाता है। अतएव :—

"भाषा समः—वह अलंकार-चातुर्य है जिसके आधार पर काव्य में अन्य भाषा के परमोपयुक्त, भावपूर्ण और प्रचलित सुन्दर शब्द या पद प्रयुक्त किये जाते हैं।"

सूचनाः—ध्यान रहे कि इसका उपयोग करते हुये इसका पूर्ण विचार रखना चाहिये कि अन्य भाषा के ऐसे शब्द या पद देशज रूप में रूपान्तरित करके रक्खे जावें, न कि अपने वास्तविक या तत्सम रूप में और यदि रक्खें भी जावें तो वे ही शब्द या पद लिये जावें जो उसी रूप में चिर प्रचलित होकर सर्वथा परिचित, भावपूर्ण, उपयुक्त और मनोरम हों। जिनके पर्यायीवाची शब्द अपनी भाषा में न प्राप्त होते हों, अथवा यदि उनके पर्यायीवाची शब्द प्राप्त भी होते हों तो

उनमें वह चमत्कार न आता हो। जहां कहीं किसी विदेशीय के के मुख से कुछ कहलाना हो वहां उसकी भाषा के शब्दों का उपयोग करना बहुत ही स्वाभाविक और रुचिकर होता है। सम्भवतः यह अलंकार नाटक-रचना से ही सम्बन्ध रखता है, क्योंकि उसी में विविध भाषोपयोग का विधान है।

संस्कृत के पश्चात जब प्राकृत एवं अपभ्रंश के शब्दों का कवि लोग संस्कृत के काव्यों एवं नाटकों में प्रयोग करने लगे तब इस अलंकार को प्रधानता प्राप्त हुई। काव्य-भाषा की शुद्धता से कवियों ने इसका प्रयोग बहुत ही कम किया है, और ठीक भी यही है। फ़ारसी के प्रचार-प्रावल्य से हिन्दी में भी इसका उपयोग खूब हुआ है।

अभ्यास

(१) भाषा-सम के विषय में यहाँ किन विशेष बातों की ओर संकेत किया गया है, सतर्क लिखो।

(२) "गई बहोरि गरीब-निवाजू",जाहिर जहान मैं महान महिमा है तासु,
दृष्ट्वा ताम् प्रवदंति किम् बहु जनाः आई नहीं कौमुदी।"
इनमें भाषा सम का प्रयोग कहाँ किया गया है।

(३) इस अलंकार के विकास का क्या कारण कहा जा सकता है।

(१२) वक्रोक्ति

"को तुम ? हम हैं हरि अरी ! बानर को नहिं काम।"

यहाँ पर राधिका ने कृष्ण के हरि नाम का दूसरा अर्थ लेकर कैसी उपहास मूलक बात कही है, और कृष्ण की उक्ति को वक्रता दे दी है, ऐसे ही जहां उक्ति में वक्रता लाकर चातुर्य के साथ अर्थान्तर-चमत्कार की चारुता ला दी जाती है वहां वक्रोक्ति अलंकार माना जाता है। अतएवः—

वक्रोक्ति वह है जिसके द्वारा अन्य अभिप्राय से कहे हुये वाक्य का चातुर्य के साथ तदतिरिक्त कोई अन्य अर्थ लिया जाता है, और इस प्रकार एक विशेष प्रकार का वैचित्र्य-कुतूहल उत्पन्न किया जाता है।

सूचनाः—वक्र = टेढा + उक्ति = कथन अर्थात् किसी बात को सीधे-सादे रूप में न लेकर विचित्र ढंग से घुमा-फिरा कर अर्थान्तर के साथ लेना।

इस प्रकार इसका आधार वैचित्र्य एवं चातुर्य-चमत्कार ही है। इसी विचार से कुछ आचार्यों ने इसे अलंकारों का एक मूल तत्व माना है, क्योंकि वैचित्र्य ही अलंकारों, क्या काव्य का भी एक मुख्य आधार है, इसे काव्य का प्राण भी कहा गया है।

प्रथम इसके मुख्य दो रूप हो सकते हैं:—

१—जहां बिना भावान्तर के ही किसी भाव को साधारण रूप में न व्यक्त करके किसी विचित्र ढंग से प्रकाशित किया जावे। यथाः—तव सकाश ते लहत छवि, कौन वर्ण-समुदाय। "अर्थात् आपका क्या नाम है।"

२—जहां वैचित्र्य के साथ अभिप्राय में भी वैलक्षण्य एवं अन्तर कर दिया जावे, और इस प्रकार एक विशेष प्रकार का चमत्कार दिखलाया जावे।

इसी रूप को काव्य में लेकर आचार्यों ने श्लेष और काकु के द्वारा दो भागों में इस प्रकार रख दिया है :—

(१) शिलष्ट वक्रोक्तिः—जहां दो या अधिक अर्थ देने वाले शिलष्ट शब्दों के द्वारा अर्थान्तर की उत्पत्ति की जाये।

नोट :—जब वक्ता स्वतः अर्थान्तर कराने के लिये शिलष्ट शब्द या पद रखता है और श्रोता को दूसरा अर्थ लेने के लिये बाध्य सा करता है या उसे संदेह में छोड़ देता है। तभी शिलष्ट वक्रोक्ति माननी चाहिये। किन्तु जब वक्ता का ऐसा विचार न हो और श्रोता ही अपने पांडित्य-प्रभाव से अर्थान्तर की कल्पना करे तब शिलष्ट वक्रोक्ति का मानना ठीक नहीं जँचता। श्रोता ही जहाँ किसी विशेष अभिप्राय से अर्थान्तर की कल्पना कर वक्ता को उसे स्वीकार करा दे तब भी वक्रोक्ति होती है।

श्लेष की भांति इसके भी दो रूप हो जाते हैं:—**१. अभंगपद**—जहां शिलष्ट पद को बिना तोड़े ही उसकी अनेकार्थक शक्ति से अर्थान्तर हो सके।

यथाः—"गाइन कौ ले जाहु बन, जो गोपाल तव नाम।"

यहां गोपाल का शुद्ध अर्थ (गो = गाय + पाल = पालने वाला; अहीर) लेकर बात कही गई है उसका रूढ़ि अर्थ (कृष्ण) नहीं लिया गया।

(२) सभंगपद्—जहां श्लिष्ट पद को तोड़ कर अर्थान्तर किया जाय। यथाः—को तुम, बूझ्यौ राधिका, "मोहन" बोले श्याम।
मोह नहीं तौ जाहु फिरि, यह मोहिन कौ धाम॥

यहां मोहन को तोड़ कर (मोह = प्रेम + न = नहीं) अर्थान्तर किया गया है।

(२) काकु गर्भाः—जब शब्दों के उच्चारण में स्वर-भेद या ध्वनि-भेद से अर्थान्तर हो जाता है तब काकुगर्भा वक्रोक्ति मानी जाती है।

नोट :—प्रायः यह तो दैनिक व्यवहार में भी देखा जाता है कि बोलने में उच्चार स्वर-भेद से भावान्तर हो जाता है। इस वक्रोक्ति का प्रयोग प्रायः हास्य एवं रौद्र रस-वाले वाद-विवाद में विशेष रूप से होता है।

यथाः—"मैं सुकुमारि, नाथ वन योगू।
तुमहिं उचित तप, मो कहँ भोगू॥
जिय बिनु देहे नदी बिनु बारी।
तैसहि नाथ ! पुरुष बिनु नारी॥

यहां मैं, नाथ, तुमहिं, तप, मो कहं, भोगू और जिय, बारी, पुरुष पर ज़ोर देने से अर्थान्तर हो जाता है। स्मरण रखना चाहिये कि किसी दूसरे के ही कथन में ऐसा करने से वक्रोक्ति

होती है, अपने ही कथन में ऐसा करने से वक्रोक्ति न होकर गुणी भूत व्यंग्य ही होता है।

(३) आर्थी:—जहां पर्यायवाची (समानार्थवाची) शब्दों के भी रखने से अर्थान्तर की कल्पना करने में वाधा न हो।

यथाः—गिरजे ! कित याचक गयो, याचक गो बलि-द्वार।"

यहां याचक के स्थान पर भिक्षुक करने पर भी वही बात बनी रहती है। लक्ष्मी जी श्री शंकर को याचक बना कर पार्वती को उपहसित करती हैं, और वे श्री विष्णु के ही ऊपर उसे ढाल कर लक्ष्मी जी को लज्जित करती हैं।

अभ्यास

(१) वक्रोक्ति से क्या तात्पर्य है ? इसके मुख्य कितने भेद होते हैं।

(२) सिद्ध करो कि वक्रोक्ति का श्लेष से सम्बन्ध है, उदाहरण भी दो।

(३) काकु का क्या अर्थ है ? सोदाहरण काकु सम्बन्धी वक्रोक्ति को स्पष्ट करो।

(४) आर्थीवक्रोक्ति की क्या पहिचान हैं ? उसमें शाब्दी की अपेक्षा क्या विशेषता है।

(५) वक्रोक्ति को काव्यालंकारों का प्राण माना गया है—क्यों ? और तुम्हारा इस सम्बन्ध में क्या विचार है ? सतर्क लिखो।

(१३) प्रहेलिका

इसे पहेली भी कहते हैं, विद्यार्थी इससे परिचित ही होंगे। कहीं २ इसे बुझौवल भी कहा जाता है। काव्य में भी इसे चमत्कृत रूप से रखते हैं, और कभी २ बड़ा कार्य साधते हैं। जब तक इसमें वाग्वैचित्र्य पूर्ण चातुर्य-चमत्कार नहीं होता तब तक इसे अलंकार नहीं कह सकते हैं।

प्रहेलिकाः—जहां प्रश्न से ही या उसमें कुछ हेर फेर करने अथवा उसके भावाभिप्राय से उसका अभीष्ट उत्तर निकल आये और जिसमें वाग्वैचित्र्य के साथ चमत्कार-चातुर्य भी हो।

नोट :—कुछ आचार्यों ने इसे "प्रश्नोत्तर" के नाम से माना है, किन्तु यह बिना प्रश्न के भी हो सकती है। कौतुक-कुतूहल मय मनोरंजकता के साथ ही इसमें काव्य-गुण का भी होना आवश्यक है।

इसके मुख्य दो भेद हैं:—(१) **शाब्दी:**—जहां शाब्दिक चमत्कार प्रधान हो। यथाः—

देखी एक अनोखी नारी, गुण उसमें यह सब से भारी।
पढ़ी नहीं, यह अचरज आवै, मरना-जीना तुरत बतावै॥

इसमें नारी शब्द पर विशेषता है, अस्तु यह शाब्दी है।

(२) **आर्थी**—जिसमें, अर्थ-चमत्कार प्रधान हो।

यथाः—श्रीपति के कर में बसै, पांच बरन गनि लेहु।
पहिलो आखर त्यागि कै, शेष हमैं प्रभु देहु॥

उत्तर—सुदर्शन

यहां शब्द सुदर्शन–से चक्र का तात्पर्य नहीं वरन् दर्शन से है, अस्तु इसके अर्थ पर ज़ोर दिया गया है और इसीसे यह आर्थी प्रहेलिका है। इसके अनेक भेदोपभेद हैं, जो "अलंकार पीयूष" में मिलेंगे।

(१४) चित्रालंकार

काव्य में कला-कौशल का प्रयोग करते हुये कवियों ने चित्रालंकारों का विधान किया है। किसी विशेष चित्र में किसी विशेष छन्द को व्यवस्थित करके उसे गुप्त करते हुये चित्रित सा कर देना ही इसका मूल तत्व है। ऐसा करने में कवि को एक कारीगर की भांति अपने छन्द में शब्दों एवं वर्णों को ख़ूब चुन चुन कर रखना पड़ता है जिससे अभीष्ट चित्र में वे व्यवस्थित हो सकें। इस प्रकार के कौशल से कवि के भाषाधिकार एवं प्रगाढ़ पांडित्य का परिचय तो मिलता है किन्तु उसके काव्य को कुछ भी उत्कर्ष नहीं प्राप्त होता।

शब्दों एवं वर्णों के द्वारा कहीं २ चित्र भी बनाये जाते हैं इस कला का प्रयोग अरबी भाषा में बहुत होता है और इस प्रकार की लेखन-कला का उसमें विशेष स्थान है। ठीक उसी प्रकार तो नहीं वरन् कुछ भिन्न रूप से ऐसी चित्र-लेखन-कला हिन्दी में भी हैं, श्री हनुमान जी आदि के चित्र वर्णों से रचित मिलते हैं, इसका काव्य में कोई भी स्थान नहीं।

महाकाव्यों में चित्रालंकारात्मक कुछ छंदों का किसी एक सर्ग में रखना महाकवि के लिये अनिवार्य माना गया है। हिंदी

में चित्रालंकारों का प्रयोग बहुत ही कम किया गया है, केवल कुछ रीति-ग्रंथों में ही संस्कृत के अनुकरण रूप से कुछ उदाहरण इसके पाये जाते हैं। इसीलिये हम इनका यहां देना उपयुक्त या उपादेय नहीं समझते।

अभ्यास

(१) प्रहेलिका से क्या तात्पर्य है, इसके कितने रूप होते हैं?

(२) चित्रालंकार का मूलतत्व क्या है? इनके विषय में तुम्हें यहाँ क्या बतलाया गया है?

(३) संस्कृत के काव्यों में चित्रालंकारों के लिये क्या विधान है?

प्रश्न-पत्र (२)

(१) शब्दालंकारों का मूलतत्व क्या है? किस मनोवृत्ति का इनमें प्राधान्य है।

(२) शब्दालंकारों का वर्गीकरण वैज्ञानिक रीति से कैसे किया गया है? उसकी सतर्क आलोचना करो।

(३) अन्तर बताओ—

१. वीप्सा और पुनरुक्त प्रकाश।

२. यमक और वीप्सा।

३. सिंहावलोकन और यमक।

४. अंतानुप्रास और तुक।

(५) तुक के कितने रूप होते हैं, उनकी सूक्ष्म व्याख्या करो।

(६) कुंडलिया में लाटानुप्रास का क्या स्थान है और क्यों, सतर्क लिखो।

(७) आवृत्ति के कितने रूप होते हैं, उनके आधार पर किन २ शब्दालंकारों की व्यवस्था की गई है ?

(८) श्लेष का मर्म क्या है ? इसका अलंकारों में क्या स्थान है, सतर्क लिखो।

(९) भाषासम से क्या तात्पर्य है, इसके प्रयोग में किन बातों का ध्यान रखना चाहिये।

(१०) वृत्तियों से क्या अर्थ हैं, वे कितनी हैं ? किन रसों से उनका सम्बन्ध है, वृत्त्यनुप्रास के रूप इनके आधार पर लिखो ?

(११) वक्रोक्ति और श्लेष का क्या सम्बन्ध है ? काकु क्या है ? उससे क्या प्रभाव पड़ता है ?

(१२) पुनरुक्तवदाभास की सोदाहरण सूक्ष्म व्याख्या और सतर्क आलोचना करो।

अर्थालंकार

प्राक्कथन

अलंकार शास्त्र में जिन अलंकारों को विशेषता दी गई है वे अर्थालंकार ही हैं। प्राचीन काल के शिला-लेखों एवं ग्रंथों के देखने से यह ज्ञात होता है कि कवि या लेखक लोग प्रथम अपनी रचनाओं में शब्दालंकारों (विशेषतया यमक, अनुप्रासादि) को ही विशेष स्थान और प्राधान्य दिया करते थे, उन्हीं का प्रयोग प्रचुरता के साथ करते थे, कदाचित इसी लिये चूंकि उनकी ओर केवल दृष्टि पड़ते ही ध्यान आकृष्ट हो जाता है।

प्राचीन काव्यों को देखने से यह भी ज्ञात होता है कि प्रथम उपमा जैसे केवल कुछ ही साधारण तथा स्वाभाविक अर्थालंकारों का प्रयोग विशेष रूप से किया जाता था। प्रथम अर्थालंकारों का विकास-प्रस्तार भी इतना न हुआ था। इनके क्रमिक विकास का पता काव्य-शास्त्र के भिन्न भिन्न समयों में रचे गये, ग्रन्थों से अच्छा चलता है। केवल एक छोटी सी ही संख्या से प्रारम्भ करते हुये इनकी संख्या अब १२० से भी अधिक हो गई है।*

*देखो "श्रीरसालकृत अलंकार-पीयूष" पूर्वार्ध

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य के विकास के साथ ही जैसे जैसे काव्य-शास्त्र का भी विकास होता गया वैसे ही अर्थालंकारों की भी वृद्धि होती गई है। कवि लोग भाव-प्रकाशन के चमत्कृत ढंगों का चातुर्य के साथ आविष्कार कर चले और

आचार्य लोग उन्हीं के आधार पर अलंकारों के नव भेदोपभेदों की उत्पत्ति कर चले। बस अर्थालंकारों की संख्या में वृद्धि हो चली।

काव्य-शास्त्र के उत्तर-काल में अर्थालंकारों का इतना प्राधान्य हो गया कि कतिपय आचार्यों ने अर्थालङ्कारों का ही विवरण अपने ग्रन्थों में दिया है, शब्दालङ्कारों को छोड़ दिया है, और यदि उठाया भी है तो बहुत सी सूक्ष्म रूप में।

हिन्दी के आचार्यों में भी यही बात विशेष रूप से पाई जाती है, जिन्होंने कुवलयानन्द आदि ग्रन्थों से सहायता ली है उन्होंने शब्दालङ्कारों का वर्णन ही नहीं किया।

वर्गीकरण

अर्थालंकारों का वर्गीकरण अब तक पूर्ण रूप से वैज्ञानिक-शैली से एक निश्चित सिद्धान्त के आधार पर नहीं हो सका। कई विद्वानों ने इसका प्रयत्न किया है और कई प्रकार से अर्थालङ्कारों की श्रेणियां बनाई हैं किन्तु सफलता किसी को नहीं प्राप्त हो सकी।

प्रथम हम अलङ्कारों के जिन मुख्य ४ तत्वों की ओर संकेत कर चुके हैं वे वास्तव में अर्थालङ्कारों के ही आधारभूत तत्व हैं, किन्तु वे पर्याप्त नहीं है।

विचार पूर्वक देखने से ज्ञात होता है कि ये चारो तत्व अपनी महत्ता-सत्ता अवश्य रखते हैं किन्तु इनके अतिरिक्त भी कुछ अन्य ऐसी बातें हैं जिनके आधार पर अर्थालङ्कारों का इतना विस्तृत-विकास हुआ है।

व्याकरण, न्याय, कार्य-कारण सिद्धान्त, विलोम-रीति आदि से सम्बन्ध रखने वाली कुछ मूल बातों के आधार पर कतिपय अर्थालङ्कारों की रचना की गई मिलती है। इससे ज्ञात होता है कि साहित्य के क्षेत्र में जब जब जिस जिस बात की ओर विशेष ध्यान दिया गया है और उसकी प्रधानता की गई है तभी तब उसी बात के आधार पर नवीन अलङ्कारों को मिला कर नवीन अलङ्कारों की सृष्टि रची गई है। कभी कभी दो अलङ्कारों को मिला कर एक नवीन अलङ्कार भी रचा गया है और इस प्रकार संमिश्रण से मिश्रालङ्कारों की भी उत्पत्ति की गई है।*

*देखो 'अलंकार-पीयूष' पूर्वार्द्ध

इतना होने पर भी यदि अब काव्य की ओर देखा जाये तो ज्ञात होगा कि भाव-प्रकाशन के कुछ नवीन ढंग ऐसे आ गये हैं जिनके आधार पर कुछ नवीन अर्थालङ्कारों की उत्पत्ति अब भी की जा सकती है। भेदोपभेदों की भी संख्या मिश्रण के द्वारा बढ़ाई जा सकती है।*

*श्री 'रसाल' जी ने इस ओर स्तुत्य-प्रयास किया है, देखो "अलंकार पीयूष का उत्तरार्द्ध भाग

———

परिभाषिक-शब्द

अर्थालङ्कारों की विवेचना करते हुये आचार्यों ने स्थान, एवं समय के लाघव के विचार से कुछ पारिभाषिक शब्दों का विशेष प्रयोग किया है। वास्तव में उनके प्रयोग से स्थान, समय एवं कथन में बहुत कुछ बचत हो जाती है। ऐसे शब्दों का जान लेना प्रत्येक विद्यार्थी के लिये अत्यावश्यक है।

उपमेयः—(उपमा देने योग्य) वर्ण्य (वर्णनीय) विषय या उससे सम्बन्ध रखने वाली उस मुख्य वस्तु को कहते हैं जिसे उपमा दी जावे, जो उपमा के योग्य हो अर्थात् जिसकी तुलना उसी प्रकार की किसी अन्य वस्तु से (जो विशेष परि-चित, प्रचलित तथा व्यापक सी हो) सादृश्य या साम्य के साथ की जावे। यथा 'श्रीराम के नेत्र कमल से हैं', यहाँ कुल वाक्य का मुख्य पद नेत्र ही है, उसी के विषय में वाक्य की रचना की गई है अस्तु नेत्र प्रधान पद है, अब इसकी तुलना (समझाने के लिये तथा विशेषता दिखलाने के लिये) कमल के फूल से (जो साधारणतः परिचित तथा प्रचलित सा ही पदार्थ है) साम्य के आधार पर (नेत्रों और कमल दोनों में समानता है) की गई है, अस्तु नेत्र को काव्य-शास्त्र में उपमेय कहते हैं।

इसके पर्यायीवाची शब्द हैं :—विषय, वर्ण्य, प्रासंगिक विशेष्य, प्रस्तुत।

उपमानः—उक्त उपमेय वस्तु की तुलना या समता जिस वस्तु विशेष (जो परिचित, व्यापक तथा अविद्यमान होती है) से की जावे या जिस वस्तु की उपमा दी जावे उसे **उपमान** कहते हैं।

यथा उक्त उदाहरण में नेत्र (उपमेय) की समता कमल से की गई है (वह परिचित, उसके समाज तथा यहाँ इस समय अविद्यमान है) अस्तु कमल को काव्यशास्त्र में **उपमान** कहेंगे।

इसके **पर्यायीवाची** शब्द हैं :—विषयी, विशेषण, अप्रस्तुत, अप्रासंगिक।

साधारण धर्मः—(धर्म शब्द से यहाँ तात्पर्य है लक्षण या गुण का) उक्त उपमेय एवं उपमान में जिस गुण या लक्षण के आधार पर समानता प्रगट की जाती है, और जो तुलना का मुख्य आधार होता है उसे **"साधारण धर्म"** कहते हैं।

यथा—'नेत्र कमल से सुन्दर हैं', यहाँ सुन्दरता ही दोनों की समानता का आधार है अस्तु यही साधारण धर्म कहा जाता है।

विशेष धर्मः—उक्त उपमेय एवं उपमान में से किसी एक में जो विशेष गुण विशेषता के साथ पाया जाता है, और उन

को प्रथक करता है, विशेष धर्म कहलाता है। इसी के आधार पर दोनों का पार्थक्य प्रगट किया जाता है।

यथा :—'कमल संध्या समय संकुचित हो जाते हैं किन्तु नेत्र, जो उनके समान है, नहीं होते'। यहां संकुचन-गुण कमल में विशेष है, यही पार्थक्य कारक है।

वाचक:—उक्त उपमेय एवं उपमान की तुलना (साधारण-धर्म के आधार पर) जिस शब्द से प्रगट की जाती है, उसे **वाचक** कहते हैं। यथा उक्त उदाहरण में से (समान) शब्द वाचक है।

नोट:—ध्यान रखना चाहिये कि उपमान एवं उपमेय के पर्यायी-वाची शब्दों में से अप्रस्तुत और प्रस्तुत का प्रयोग विशेष रूप से किया जाता है।

" जाको उपमा दीजिये, सो उपमेय प्रमान।
जाकी उपमा दीजिये, सो कहिये उपमान॥

अभ्यास

(१) अर्थालंकारों के मूल-तत्व क्या हैं? उनकी व्याख्या करो।
(२) अर्थालंकारों का विकास किन २ विशेष बातों के आधार पर हुआ है।
(३) उपमान और उपमेय में क्या अन्तर है स्पष्ट लिखो।
(४) साधारण (सामान्य) धर्म तथा विशेष धर्म से क्या काम लिया जाता है, दोनों में क्या भेद है, सोदाहरण लिखो।

(५) उपमेय और उपमान के पर्यायोवाची शब्द लिखो और उनकी व्याख्या करो।

उपमा

यमुना के समान श्रीकृष्ण में श्याम-छटा है।

"पीपर-पात-सरिस मन डोला।"

यहाँ प्रथम उदाहरण में श्रीकृष्ण और यमुना की तुलना श्याम-छटा (जो दोनों में एक सी है) के आधार पर की गई है और दोनों में समानता दिखलाई गई हैं। इस लिये श्रीकृष्ण को उपमेय और यमुना को उपमान, श्याम छटा को साधारण-धर्म और तुलना या सादृश्य-सूचक 'समान' शब्द को वाचक कहते हैं। इसी प्रकार दूसरे उदाहरण में भी उपमेय (मन) उपमान (पीपर-पात) साधारण-धर्म (डोला) वाचक (सरिस) हैं।

इस प्रकार जहाँ दो वस्तुओं में सादृश्य या साम्य इन चारों बातों के साथ दिखलाया जाता है, वहाँ उपमा अथवा पूर्णोपमा-अलङ्कार माना जाता है।

पूर्णोपमः—(पूर्ण = पूरी, + उपमा = तुलना या समानता) जहाँ दो वस्तुओं में पूर्ण रूप से समानता दिखलाई जाय और

जहाँ उपमा-सूचक, उपमेय आदि उक्त चारों बातें पूर्ण रूप में हों।

वाचक-शब्दः—(विशेषतया व्रजभाषा-काव्य में) हैं—सम, समान से, सों, सी, लौं, सरिस आदि) तथा (विशेषतया खड़ी बोली-काव्य में) हैं:—सम, समान, सदृश, सा, से इत्यादि)। गद्य में प्रायः खड़ी बोली-काव्य के ही वाचक-शब्दों का प्रयोग होता है, क्योंकि खड़ी-बोली-काव्य में गद्य की ही भाषा का बहुत सूक्ष्म रूपान्तर से प्रयोग होता है।

नोटः—ध्यान रखना चाहिये कि उक्त वाचक शब्दों में से सम, समानादि कुछ शब्द ऐसे हैं, जिनके साथ सम्बन्ध कारक के चिन्हों का प्रयोग आवश्यक होता है और जो कभी उपमेय तथा कभी उपमान के साथ लगाये जाते हैं। जब ऐसे शब्दों का प्रयोग उपमा में होता है तबतो उसे आर्थी-उपमा, किन्तु जब इनके अतिरिक्त से, सी, जैसे आदि उन वाचक-शब्दों का प्रयोग होता है जिनके साथ सम्बन्ध कारक की विभक्तियाँ नहीं लगतीं तब श्रौती-उपमा कही जाती है।

"तुलना चारों अंग युत, पूरण उपमा सोय।"

लुप्तोपमा

वीर कोई पार्थ सा मिलता नहीं संसार में ।१।

श्रीकृष्ण यमुना के समान हैं ।२।

यहाँ द्वितीय उदाहरण में यमुना और श्रीकृष्ण की समानता तो है परन्तु जिस बात में समानता है उसका (श्याम-छटा) लोप कर दिया गया है। इसी प्रकार प्रथम उदाहरण में भी पार्थ सा वीर नहीं कहा गया अर्थात् यहाँ उपमा के चार अङ्गों में से प्रथम में उपमेय और द्वितीय में साधारण-धर्म का लोप कर दिया गया है अस्तु—

लुप्तोपमः—जहां उपमा के चार अङ्गों में से किसी एक या दो का लोप हो वहाँ लुप्तोपमा (लुप्त=लोप, छिपा, + उपमा = उपमा के अङ्ग) होती है।

नोट:—उपमा के उपमानादि जिन चार अंगों में से जिसका लोप कर दिया जायगा उसी की लुप्तोपमा कह कर (यथा वाचक-लुप्तोपमा एवं धर्म लुप्तोपमा आदि) इसके प्रथम चार भेद; फिर दो दो अंगों का एक साथ लोप करके पाँच भेद, यथा वाचक-धर्मलुप्ता आदि, और फिर तीन अंगों का एक साथ लोप करके वाचक-धर्मोपमान लुप्ता कहा गया है।

ध्यान रखना चाहिए कि जहाँ वाचक-धर्म और उपमेय का लोप होता है वहाँ एक स्वतंत्र अलङ्कार—रूपकातिशयोक्ति के नाम से माना जाता है। धर्म, उपमान और उपमेय के लोप

से कोई अलङ्कार ही नहीं बनता क्योंकि केवल वाचक ही शेष रहता है। इसी प्रकार, उपमान और उपमेय के लोप और केवल धर्म के ही रखने से भी कोई अलङ्करा नहीं बनता।

उपमा के अँग लोप जहँ, लुप्तुपमा है सोय।

मालोपमा

उषा की किरण के समान, बिजली की चमक के सदृश और मणि-राशि की कान्ति-रश्मि के समान मेरे हृदय में आशा की प्रतिभा फ़ैल गई ॥ १ ॥

जिमि चह कुशल अकारण कोही। सुख-सम्पदा चहै शिव-द्रोही ॥२॥
हरि-पद-विमुख परम गति चाहा। तस तुम्हार लालच नर-नाहा।

यहाँ प्रथम उदाहरण में आशा की प्रतिभा, ऊषा की किरण, बिजली की चमक और मणि-राशि की कान्ति-रश्मि के समान कही गई है। अर्थात् एक ही वस्तु की तुलना कई वस्तुओं से की गई हैं; या एक ही उपमेय के लिए कई उपमान रक्खे गये हैं अस्तु :—

मालोपमा:—जहाँ एक उपमेय के साथ कई उपमेयों की माला सी बनाई जाय, वहाँ मालोपमा (माला+उपमा या उपमाओं की माला) मानते हैं। यथा द्वितीय उदाहरण में।

नोट:—किसी वस्तु को विशेष रूप से स्पष्ट करने के लिए इसका उपयोग होता है। जहाँ एक उपमान के बहुत से उपमेय होते हैं अथवा जहाँ एक वस्तु से बहुत सी वस्तुओं की समानता दिखलाई जाती हैं

वहाँ इसका दूसरा रूप जानना चाहिए। जैसेः—कृष्ण का मुख, उनके लोचन उनके चरण तथा उनके हाथ कमल के समान सुन्दर हैं। 'पद-कंज-लोचन-कंज, मुखवर कंज कर कंजारुणम्।'

बहु उपमानन के सरिस, जहँ उपमेय बखान।
अरु विलोम वाको जहाँ, तहँ मालोपम जान॥*

* ध्यान रखना चाहिए कि यहाँ एक ही धर्म या भिन्न धर्मों के साथ तुलना हो सकती है। इस प्रकार इसके दो रूप हो जाते हैंः—एक-धर्मा और भिन्न-धर्मा। भिन्न-धर्मा का उदाहरण होगाः—राम कान्ति में सूर्य्य के समान, राजाओं में इन्द्र के समान, प्रताप में विष्णु के समान और शोभा में चन्द्रमा के समान हैं।

हे पार्थ! तुम्हारा ऊँचा वंश और वंश के समान तुम्हारा ऊँचा मन और मन के समान तुम्हारा हाथ भी ऊँचा रहता है।

यहाँ यह स्पष्ट है कि उपमाओं की एक श्रणी सी बनी है जो पूर्णतया सम्बद्ध है, क्योंकि पूर्वगत उपमेय आगे चल कर (नये उपमेय का) उपमान हो जाता है और यही क्रम चलाता रहता है अतः–

जहाँ पहिले कहा हुआ उपमेय आगे नये उपमेय का उपमान हो जाय और यह क्रम तब तक चला जाय जब तक अभीष्ट कथनीय वस्तु न कह दी जाय वहाँ उस उपमा-माला को **रसनोपमा** कहते हैं। यथा :–

न्यारो न होत बफारो ज्यौं धूम तैं,
धूम ज्यौं जात घने घन सौं मिलि।

त्यों मति मेरी मिलि मन मेरे सों,

मो मन गो मन-मोहन सौं मिलि ॥

पूर्व कथित उपमेय जहँ, आगे हो उपमान।

उपमा की श्रेणी "सरस", रसनोपम सो जान ॥

नोट:—जहाँ दो वस्तुओं (उपमेय और उपमान) की समता कई धर्मों के कारण की जाती है वहाँ कुछ लोग समुच्चयोपमा का एक विशेष रूप होता है। यथा:—कृष्ण-कर, रूप, रङ्ग और सुन्दरता में कमल के समान हैं। "चम्पक कालिका सों अहै रूप, रङ्ग अरु बास।"

अनन्वय

(१) गंगा के समान गंगा ही नदी है।

(२) सुन्दर नंद-किशोर से, सुन्दर नंद-किसोर ॥

यहाँ यह स्पष्ट है कि तुलनीय और तोलक अर्थात् उपमेय और उपमान दोनों एक ही हैं, क्योंकि उपमेय के समान कोई दूसरा पदार्थ है ही नहीं। अस्तु,

अनन्वय:—जहाँ किसी वस्तु के समान कोई दूसरी वस्तु न मिलती हो, अर्थात् किसी उपमेय के लिए कोई उपयुक्त उपमान न प्राप्त हो और एक ही वस्तु उपमेय और उपमान दोनों का कार्य करे, वहाँ अनन्वयोपमा मानी जाती है। यह भी उपमा का एक विशेष रूप है।

नोट:—ध्यान रखना चाहिए कि इसमें प्रायः धर्म का लोप रहता है, किन्तु यदि उसका लोप न भी किया जाय तो भी कोई आपत्ति नहीं।

कहीं कहीं इस भाव के भी पद रख दिये जाते हैं कि इसकी उपमा नहीं मिलती अथवा इसकी उपमा यही है।

एक वस्तु उपमेय अस, होवै निज उपमान।
मिलत "सरस" उपमा न जहँ, तहाँ अन्वय मान॥

उपमेयोपमा

सज्जनों के वचन अमृत के समान और अमृत सज्जनों के वचनों के समान मधुर है। १

सिय-मुख ससि-सम सुभग अरु,
ससि-सिय-मुख सम सोह। २

यहाँ यह स्पष्ट है कि केवल दो ही वस्तुएँ ऐसी हैं जो एक दूसरे के समान कही जा सकती हैं, उनके अतिरिक्त कोई तीसरी वस्तु ऐसी नहीं जो उनमें से किसी के भी समान हो, इसी लिए वे ही दोनों वस्तुएँ एक दूसरे के उपमेय और उपमान हैं। अतः

उपमेयोपमा:—जहाँ किसी उपमेय का केवल एक ही उपमान हो और इस प्रकार केवल दो ही वस्तुएँ आवश्यकतानुसार एक दूसरे के उपमान और उपमेय हो सकें वहाँ उपमेयोपमा कही जाता है।

नोट:—किसी २ ने इसे उपमानोपमेय की भी संज्ञा दी है और एक स्वतंत्र अलङ्कार, अन्वय के सदृश, माना है।

उपमेयऽरु उपमान दोउ, जहाँ परस्पर देय।
मिलै न तीजी वस्तु जहँ, है उपमा उपमेय॥

ललितोपमा

कृष्ण का साँवला स्वरूप श्याम-घटा को लज्जित करता है।

विहँसत सिय-मुख चन्द्र कौं, निज सुघराई मांहि।

यहाँ श्रीकृष्ण का सांवला रूप (जो उपमेय है) श्यामघटा को (जो उपमान है) लज्जित करता है अर्थात् रूप घटा से अधिक है, इसी प्रकार सिय-मुख चन्द्रमा से सुन्दता में विशेष होकर उसकी हंसी करता है। अस्तु :—

जहाँ उपमेय और उपमान की तुलना करते हुये उपमा के वाचक शब्दों के स्थान पर विशेषता, ऊनता, मैत्री, ईर्षा और उपहास आदि के प्रकाशक पद रखे जाते हैं वहाँ ललितोपमा मानी जाती है।

नोटः—ध्यान रहे कि इसकी सत्ता विशेष प्रकार के वाचक पदों पर ही आधारित है, अन्यथा यह है उपमा ही का रूप, इसके वाचक पद मुख्यतया हैः—विहँसत, निदरत, अनुहरत, होड़ करना, बाज़ी लगाना, आदि।

अभ्यास

(१) बताओ किस प्रकार की उपमा यहां है और क्यों:—

(१) सिय-मुख कौ अनुहरत नित, सुघराई मैं चंद।
पै सिय-मुख सम सीय-मुख, जानि होत है मंद॥

(२) यमुना, है यमुना-सरिस, पातक-नासन माँहि।
तासम और विलेखिये, "सरस" जगत मैं नाहिं॥

(३) स्वामि गुसाँई सरिस गुसाईं, मोंहि समान मैं स्वामि दुहाई।

(४) न्यारो न होत बफारो ज्यों धूम ते,
धूम ज्यों जात घने घन सौं मिलि।

(५) संकर-सैल सी चंद्रिका-फैल सी, सारस रैल सी हंस-कुमार सी।
कीरति-हिन्दू-नरेस की राजति, उज्वल चारु चमेली के हार सी।

(६) राम लषन सीता सहित, सोहत परन-निकेत।
जिमि बासव बस अमरपुर, शची-जयंत-समेत॥

(७) नील सरोरुह श्याम, तरुण अरुण वारिज-नयन।
करहु सो मम उरधाम, सदा छीर-सागर-सयन॥

(८) करि प्रणाम रामहिं त्रिपुरारी, हरसि सुधा सम गिरा उचारी।

(अ) कुन्द इन्दु सम देह, उमा-रमन करुना-यतन।

(ब) देखेऊँ खोजि भुवन दस चारी। कहँ अस पुरुष कहाँ अस नारी॥

(स) अरुन नयन उर बाहु विसाला। मूरति-मधुर मनोहर देखी॥
भये विदेह विदेह विसेखी। राम स्वरूप तुम्हार, बचन अगोचर बुद्धि पर।

(९) जिमि भानु बिनु दिन, प्रान बिनु तन, चन्द्र बिनु जिमि यामिनी।
तिमि अवध तुलसीदास प्रभु बिन, समुझि धौं जिय भामिनी॥

(१०) अन्तर बताओः—

(१) अनन्वयोपमा और रसनोपमा (२) पूर्णोपमा और ललितोपमा (३) अनन्वय और उपमेयोपमा।

(११) मालोपमा के कितने रूप हैं? सोदाहरण स्पष्ट करो।

प्रतीप

शरद्-पूर्णिमा का यह चन्द्र सौन्दर्य्य-शोभा में सीता के मुख के समान है।

उतरि नहाये जमुन-जल, जो शरीर सम श्याम।

यहाँ चन्द्रमा की उपमा अथवा समता सीता के मुख से दी गई है। वैसे ही जमुना-जल की समता श्रीराम के श्याम-शरीर से की गई है। यहाँ पर उपमेय, उपमान, वाचक और धर्म उपमा के सभी अंग हैं, अस्तु, कहा जा सकता है कि यहाँ पूर्णोपमा है' किन्तु अन्तर यही है कि उपमेय की तुलना उपमान से न की जाकर, उपमान की समता उपमेय से की गई है अर्थात् उपमा के विधान को उलट दिया गया है। अस्तु :—

प्रतीप :—जहाँ प्रसिद्ध उपमान को उपमेय बनाकर, प्रसिद्ध उपमेय को उपमान के रूप में रख उससे समानता दिखलाई जाती है और इस प्रकार उसका उत्कर्ष बढ़ाया जाता है वहाँ प्रथम-प्रतीप माना जाता है।

नोट:—प्रतीप का अर्थ है उलटा या विपरीत, अस्तु उपमा के विपरीत विधान वाले अलङ्कार को प्रतीप कहते हैं।

करि प्रसिद्ध उपमेय को, जहँ दीजै उपमान।
तुलना उपमा सम करिय, तहँ प्रतीप पहिचान॥

राजन्! तुम्हारा गर्व व्यर्थ है। अर्थ, कोष और सुवर्ण से हम कविराज भी तुम्हारे सदृश हैं।

नैन न एतौ गुमान करौ, तुमते अति कंजन मैं सुघराई।

यहाँ प्रसिद्ध उपमान का उत्कर्ष प्रसिद्ध उपमेय से अधिक दिखलाया गया है और उसके समाने उसका अनादर सा किया गया है। नेत्रों से कमलों को अधिक सुन्दर कह कर उनका अभिमान दूर किया गया है। यह प्रतीप का दूसरा रूप है। उपमा में इसके विपरीत होता है। अस्तु :—

द्वितीय-प्रतीप :—जहाँ प्रसिद्ध उपमेय का उसके उपमान के द्वारा तिरस्कार सा हो और उसका उत्कर्ष भी उपमान के उत्कर्ष से कुछ ऊनता के साथ दिखलाया जाय।

इसी के समान इसका तीसरा रूप (तृतीय-प्रतीप) भी होता है, जिसमें उपमान का तिरस्कार उपमेय के द्वारा उसकी हीनता अथवा लघुता के कारण किया जाता है। उपमा के समान इस में समता का भाव नहीं रहता। यथाः-दुरजनों का हृदय वज्र से भी अधिक कठोर होता है और सज्जनों का कुसुम से भी अधिक कोमल होता है।

श्री रघुवीर सिया-छबि सामुहे, श्याम घटा बिजुरी परै फीकी।*

*इसके बाचक-पद प्रायः फीके हैं, कम हैं, व्यर्थ हैं आदि होते हैं।

जहँ प्रसिद्ध उपमेय से, अधिक करिय उपमान।
तहँ प्रतीप दूजो 'सरस', कहत सुकवि मतिमान॥

कहिय जहाँ उपमेय तें लाघवमय उपमान।
तहँ प्रतीप है तीसरो, 'सरस' कहत मतिमान॥

सिय मुख समता पाव किमि चंद वापुरो रङ्क ।१।

आपके उदार-हाथों के समान कल्प वृक्ष है यह मूढ़ कथन ही है ।२।

यहां प्रसिद्ध उपमेय में इतना गुणोत्कर्ष दिखलाया गया है कि उसकी समता को उसका उपमान नहीं पहुँचा। उपमान उपमेय से बहुत ही न्यून पड़ता है। यह भाव स्पष्ट शब्दों में न रह कर केवल सूक्ष्म रूप में ही रहता है और केवल यही कहा जाता है कि दोनों समान नहीं हैं। इसे अस्वीकार सूचक प्रश्न और हेतु के साथ भी रख सकते है।

नोटः—करै न जहँ उपमेय की, सरि क्योंहूँ उपमान।
तहँ प्रतीप चौथो 'सरस' कहत सकल विद्वान ॥

इसी प्रकार जहाँ उपमेय के द्वारा उपमान के सभी कार्य्य सम्पादित हो जाते हैं और इसलिये उपमान व्यर्थ हो जाता है वहाँ प्रतीप का पाँचवाँ रूप माना जाता है। अस्तुः पंचम प्रतीप में उपमेय के संमुख उपमान व्यर्थ कहा जाता है। इसके वाचक शब्द हैंः--मंद, वृथा, बादि, कछु नहिं, कहा, विफल अथवा इनके पर्यायीवाची अन्य पद हैं।

नोटः—समता लखि उपमेय की, वादि करिय उपमान।
तहँ प्रतीप पंचम 'सरस' कहत सबै मतिमान ॥'

अभ्यास

(१) प्रतीप और उपमा में क्या भेद है, उदाहरण देकर समझाओ।

(२) प्रतीप के कितने रूप होते हैं, स्पष्ट रूप से लिखो।

(३) बताओ यहाँ उपमा है या प्रतीपः—

१-कीरति हिन्दू-नरेश की राजति उज्वल चारु चमेली के हार सी।

२-हरि-पद सरिस बनाय, विधि हारो अरविन्द कै।

३-बहुरि विचार कीन मन माहीं, सीय वदन सम हिमकर नाहीं।

४-सुर-तरु लै करिये कहा, जब हैं नृप सिवराज।

५-लखकर मुख-शोभा, मंद होता मयंक।

(४) द्वितीय और तृतीय प्रतीप की तुलना करो और अन्तर बताओ।

परिणाम

"लै कर-कंज मैं लेखनी लोल लिखै लगी चित्र विचित्र बनाई।" श्रीराम को देख कर सीता के नेत्र-कमल खिल उठे।

यहां यह स्पष्ट है कि कंज स्वरूपी हाथ (कर) चित्र लिखते हैं, किन्तु कहा गया है कि कर-कंज लिखते हैं, या कंज लिखने का काम, जो हाथ का काम है, कर रहे हैं और इस प्रकार उपमेय (कर) का कार्य उपमान (कंज) के द्वारा किया जाता कहा गया है। अस्तु **जहां उपमान अपने उपमेय का कार्य करता हुआ कहा जाय वहां परिणाम** अलंकार कहा जाता है। यहां उपमान और उपमेय दोनों में अभेद ही रहता है।

नोटः—इसका विलोम रूप होगा वहाँ जहाँ उपमेय अपने उपमान का कार्य करता हुआ कहा जायगा। वास्तव में यह उपमा तथा रूपक का एक विशेष रूप ही है।

रूपक

"राम-कथा सुन्दर करतारी,
संसय-विहँग उड़ावनहारी।"

"सद्विचार-तरंगों से तरंगित भक्ति-रस पूर्ण मन-मानस धन्य है।"

यहां मन को पूर्ण रूप से मानस कहा गया है, दोनों में अभेद दिखलाने के लिये रस और तरंगों की भी सत्ता प्रगट की गई है। उपमेय और उपमान दोनों का साम्य यहाँ अभेद के साथ है, हाँ धर्म और वाचक नहीं हैं, तो भी उपमेय में उपमान का पूरा आरोपण किया गया है। अतएव रूपकः—"वहां होता है जहां उपमेय और उपमान में अभेद दिखलाते हुये उपमा के समान साम्य प्रगट किया जाये, किन्तु वाचक और धर्म का लोप रहे अथवा सर्वथा एक रूपता का कथन करते हुये जहाँ उपमेय में उपमान का आरोपण किया जावे"

नोटः—रूपक का शब्दार्थ है रूप का करने वाला—अर्थात् जहाँ किसी उपमान का सा सारा चित्र उपमेय में चित्रित किया जाकर उसे वैसा ही रूप दे दिया जावे। वास्तव में यह वाचक धर्म-लुप्तोपमा का ही एक ऐसा विशेषरूप हैं जिसमें अभेद के साथ एक रूपता के स्थापित या आरोपित करने का भाव प्रधान रहता है।

रूपक के मुख्य रूपः—

(१) अभेद रूपकः—बिना निषेध के अभेद दिखलाते हुये गुण, कर्म एवं स्वभाव के साथ जहाँ उपमेय पर उपमान का आरोपण हो।

इसी के साथ उपमेय और उपमान का समानतापूर्ण वर्णन प्रथम में कुछ विशेषता तथा द्वितीय कुछ हीनता के साथ करके सम, अधिक और हीन ३ उपभेद किये गये हैं। यथाः—सदैव अमंद रहता हुआ सिय-मुख बिना कलङ्क का चंद्रमा है, पवन-कुमार, जो बिना पंख के पक्षिराज हैं, क्षण में सिंधु को पार कर गये।

(२) तद्रूपरूपकः—उपमेय को जहाँ उपमान का ही रूप दिया जाता है। इसके वाचक पद प्रायः अपर, दूसरा, अन्य आदि होते हैं।

इसके भी अभेद रूपक के समान १. सम २. अधिक और ३. हीन तीन भेद किये गये हैं। यथाः—

"दुइ भुज के हरि रघुवर, सुन्दर भेस।
एक जीभ के लछिमन, दूसर सेस॥" (हीन तद्रूप)

सूचनाः—ध्यान रहे कि सम अभेद रूपक ही वास्तव में सच्चा रूपक है।

रूपक के ये ३ भेद वर्णन के अनुसार किये गये हैंः—

१—सांग (सावयव) रूपक वहाँ होता है जहाँ उपमान के सभी अङ्गों (गुणों या लक्षणों आदि) का आरोपण उपमेय में किया जाता है। यथाः—

उदित उदय-गिरि-मंच पर, रघुवर-बाल-पतंग।
विकसे संत-सरोज सब, हरषे लोचन-भृंग॥

यहाँ सूर्योदय के सभी लक्षण राम के मंच पर आने में दिखलाये गये हैं।

नोटः—इसके दो उपभेद हैं:—१. समस्त-वस्तु-विषयक—जिसमें सभी अङ्ग हों, यथा उक्त उदाहरण में, २. एक देश विवर्ति—जिसमें कुछ अङ्ग तो लिये जायं और कुछ न लिये जायें। यथाः—

नाम पाहरू, दिवसनिसि, ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन मग पद जंत्रिका, प्राण जाहिं केहि बाट।

यहाँ नाम, ध्यान और लोचन पर पाहरू, कपाट, यंत्र का आरोपण है, किन्तु प्राण पर किसी का नहीं, यह अंग छोड़ दिया गया है।

२. निरंग (निरवयव) रूपकः—जहाँ उपमेय पर बिना अङ्गों का कथन किये ही उपमान का आरोप हो, हाँ प्रधान अंग (गुण) का अभेद अवश्य हो।

यथाः—अवसि चलिय वन राम पहँ, भरत मंत्र भल कीन्ह।
शोक-सिन्धु बूड़त सबहिं, तुम अवलंबन दीन्ह॥

यहाँ शोक पर सिंधु का आरोप तो है किन्तु उसके अंगों (गुणों) का कथन नहीं किया गया है।

३. परंपरित रूपकः—जहाँ एक रूपक किसी अन्य (अन्तर्गत) रूपक पर निर्भर हो, या एक दूसरे का हेतु अथवा आधार हो।

नोटः—इसके भी दो भेद हैं:—१. शुद्धः—जिसमें एक ही रूपक एक का आधार हो--यथा—अङ्गद तुही बालि कर बालक।

उपज्यो बंस-अनल-कुल-घालक॥

बन्दौं पवन-कुमार, खल-बन पावक ज्ञान-घन।

यहाँ पवनकुमार पर पावक का आरोपण है और वह खलों के ताप के नाश करने के लिये। यहाँ केवल एक ही उपमेय और एक ही उपमान है, हां कार्य कई हैं।

२. मालाकारः—जहाँ कई रूपकों की एक मालिका सी हो। यथाः—छेम की छहर, गंगा रावरी लहर, कलिकाल कौ

कहर, जम-जाल कौ जहर है।

यहाँ एक गंग-लहर पर जहर आदि कई उपमानों का आरोपण है, और रूपकों की अतएव एक माला सी बन गई है।

कहीं २ कवि लोग श्लेष से इसे और भी चमत्कृत कर देते हैं, यथाः—"शंकर-मानस राज-मराला"। यहाँ मानस पद श्लिष्ट हो कर मन और मानसरोवर दोनों का अर्थ देता है।

सूचनाः—उपमा की भाँति रूपक भी बहुत व्यापक तथा आवश्यक अलंकार है।

अभ्यास

१. रूपक का मुख्य लक्षण बताते हुये उसके प्रधान भेद लिखो।

२. बताओ रूपक कहाँ और कौन से भेद के रूप में हैं:—

सुनु गिरिराज-कुमारि, भ्रम-तम रबिकर वचन मम।
राम नाम नर-केसरी, कनककशिपु कलिकाल।
जापक जन प्रहलाद जिमि, पालहिं दल सुरसाल॥
नारि कुमुदिनी, अवध सर, रघुवर-विरह दिनेस।
अस्त भये विकसित भई, निरखि राम-राकेस॥

३. उपमा और रूपक की तुलना करते हुये दोनों में अन्तर बताओ।

४. अपनी ओर से तुम परंपरित, तद्रूप, और माला-रूपकों के उदाहरण देते हुये स्पष्ट रूप से इनकी व्याख्या करो।

५. परिणाम अलङ्कार का क्या लक्षण है, सोदाहरण लिखो।

६. अन्तर बताते हुये अलङ्कार-निर्णय करो—

१-राम को देख सीता के नेत्र-कमल खिल उठे।
२- ,, ,, कमल-नयन ,,
३- ,, ,, नयनारबिंद प्रफुल्लित हो उठे।

उत्प्रेक्षा

"लता-भवन ते प्रगट भे, तेहि अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु जुग विमल विधु, जलद-पटल बिलगाइ॥"

लताओं के बीच से निकले हुये राम और लक्ष्मण के लिये यहाँ कवि ने बादलों से निकले हुये दो निर्मल चन्द्रमाओं की कल्पना की है। साथ ही वह प्रस्तुत वस्तु (राम लषण) से पाठकों को अप्रस्तुत वस्तु (चन्द्र-युग्म) की ओर लिये जाता है।

उत्प्रेक्षा:—जहाँ अप्रस्तुत के रूप में प्रस्तुत वस्तु की कल्पना की जावे और भेद रहते हुये भी उपमेय पर उपमान का बलपूर्वक आरोपण सा किया जावे, साथ ही कल्पना से उपमेय के लिये चमत्कृत उपमान ठहरा लिये जावें।

नोटः—यह उपमा के ही एक विशेष रूप में रहता है। प्रायः वाचक के ही कारण उपमा से यह प्रथक हो जाता है। उत्प्रेक्षा (उत+प्र (उपसर्ग)+ईक्ष) का शब्दार्थ है बलपूर्वक प्रधानता से ऊपर देखना। रूपक में भी ऐसा ही आरोपण-भाव रहता है किन्तु अभेद के साथ, किन्तु यहाँ भेद का ज्ञान रहता है। जहाँ भेद-ज्ञान संशयमय रहता है वहाँ संदेहालङ्कार और जहाँ उपमेय एवं उपमान में से किसी एक में निश्चय या दोनों में साम्य जान पड़ता है वहाँ संभावनालङ्कार माना जाता है, अस्तु ये दोनों इसी के विशेष रूप से ही हैं।

वाचक पदः—इसके वाचक-शब्द प्रायः मानो, जानो मनु, जनु, प्रायः, बहुधा, इव, खलु आदि होते हैं। इनमें से किसी एक का होना इसमें आवश्यक है।

भेदः—इसके मुख्य भेद हैं :—१. वाच्या—जिसमें वाचक पद हों २. प्रतीयमान जिसमें वाचक पद न हो।

अब प्रथम के भेद हैंः—१—**वस्तूत्प्रेक्षा :**—जहाँ किसी प्रस्तुत वस्तु (उपमेय) के अनुरूप ही किसी अप्रस्तुत (उपमान) वस्तु की कल्पना की जावे। इसमें उत्प्रेक्षा का विषय (जिसके लिये उत्प्रेक्षा की जाये) जहाँ प्रगट रहता है वहाँ तो उक्त विषया और जहाँ प्रगट नहीं रहता वहाँ अनुक्त विषया मानते हैं। यथाः—१. तरनि-तनूजा-नीर पै, रबि-छबि ऐसी सोह।
मनहुँ स्याम तन पै परत, पीताम्बर मन मोह॥

२. उदित सुधाधर करत जनु, सुधामयी बसुधाहिं।

यहाँ प्रथम में उत्प्रेक्षा-विषय को (छवि) प्रथम कह कर उत्प्रेक्षा की गई है, किन्तु द्वितीय में उत्प्रेक्षा-विषय (चाँदनी) को न कह कर भी उत्प्रेक्षा की गई है।

२—**हेतूत्प्रेक्षाः**—जहाँ उत्प्रेक्षा का हेतु भी दिखलाया जाये, चाहे वह ठीक हो या न हो। यदि हेतु ठीक है तो अलङ्कारिता न रहेगी। यहाँ हेतु सम्भव या असम्भव दोनों रूपों में हो सकता है, अस्तु इसी विचार से इसके दो उपभेद कर दिये गये हैं।

यथाः—१. सोहत जनु जुग जलज सनाला,
ससिहिं सभीत देत जयमाला।

२. मोर मुकुट की चन्द्रकनि, यों राजत नँदनंद।
मनु ससि-सेखर कौ अकस, किय सेखर सतचंद॥

यहाँ प्रथम उदाहरण में कमल का चन्द्रमा से सभीत होना सिद्ध और सम्भव है, और यही उत्प्रेक्षा का हेतु है। द्वितीय में यह बात ऐसी नहीं हैं।

३. फलोत्प्रेक्षा :—जहाँ किसी कार्य के फल पर उत्प्रेक्षा की जाय और वह फल ठीक न हो। इस फल या आधार के सम्भवासम्भव या सिद्धासिद्ध होने पर इसके दो रूप हो जाते हैं। यथा:—

(१) सिय कर समता लहन कौं, रविहिं विनव जनु कंज।

(२) रटत रहत रिपु रावरे, शिव शिव सबही जाम।
मरन निवारन हेतु मनु, जपत रहत हरि-नाम॥

—यहाँ प्रथम में तो फल असिद्ध और दूसरे में सिद्ध है।

नोटः—क्रिया-पद से यह विचार करने पर कि यहाँ हेतु कहा गया है अथवा फल, उक्त हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा की पहिचान हो जाती है। कहीं २ दोनों एक से ही जान पड़ते हैं।

जहाँ उत्प्रेक्षा के वाचक-शब्दों के बिना ही उत्प्रेक्षा का भाव प्रगट हो वहाँ प्रतीयमाना या गम्य-उत्प्रेक्षा मानी जाती है। ध्यान रहे कि वाचक-हीन वस्तूत्प्रेक्षा को अतिशयोक्ति मानते हैं। प्रतीयमान का सम्बन्ध इसीलिये शेष दो प्रकार की उत्प्रेक्षाओं से है। सापन्ह्वोत्प्रेक्षा को हम अपन्हुति में दिखलाएँगे।

अपन्हुति

मैं जु कहा रघुबीर कृपाला। बन्धु न होइ मोर यह काला ॥

इससे यह स्पष्ट है कि यहां एक सत्य बात को मिथ्या तथा एक मिथ्या बात को सत्य सा दिखलाया गया है। सत्य बात को मिथ्या करते हुये निषेध भी किया गया है।

अस्तुः—जहाँ किसी वास्तविक बात को छिपा कर अथवा उसका निषेध करके कोई दूसरी बात कही जाती है वहाँ अपन्हुति होता है।

नोटः—अपन्हुति का शब्दार्थ है छिपाना और छिपाना ही इसका तत्व हैं। इसके वाच-पद प्रायः निषेधवाची शब्द न या नहीं अथवा मिस या व्याज आदि होते हैं।

इसके मुख्य रूप हैंः—१. शुद्धापन्हुतिः—जहाँ उपमेय को असत्य ठहरा कर उसका निषेध करते हुये उपमाम को सत्य बनाया जाय। यथा उक्त उदाहरण में।

नोटः—आरोपण के पूर्व और पश्चात् ही निषेध हो सकता है, इस लिये इस भेद से इसके दो रूप हो जाते हैं। उक्त उदाहरण में, यह मेरा वन्धु न होय, इस पद से पूर्व निषेध हैं, किन्तुः—

व्योम-सरोवर कमल यह, कह 'रसाल', नहिं इन्दु।
सारत भूतल पै लखहु, मधुर-सुधा-रसविन्दु ॥

यहाँ पूर्व-पद में प्रथम वस्तु-प्रतिपादन है और "नहिं इन्दु" के द्वारा निषेध उत्तर-पद में है।

" शुद्धापन्हुति साँच कौं दुरै असाँचहि थापि "

२. हेत्वापन्हुतिः—शुद्धापन्हुति में अपन्हुति के भाव को हेतु के साथ दिखलाने से हो जाती है।

यथाः—रात मांहि रवि होत नहिं, शशि नहिं तीव्र सुलाग।
उठी लखन! अवलोकिये बारिधि सौं बड़वागि॥

यहाँ चन्द्रमा को असत्य ठहरा कर उसे समुद्र की बड़-वाग्नि कहा गया है और रात में सूर्य का न होना आदि इसके लिये हेतु दिये गए हैं।

" हेत्वापन्हुतिः माँनिये, हेतु होय तौ, आप।"

(३) पर्यस्तापन्हुतिः—जहाँ किसी वस्तु पर आरोपित किये गये धर्म का निषेध उस वस्तु में किया जाय जिसका वह धर्म है अर्थात् जहाँ किसी के सत्य-धर्म को छिपा कर उसके स्थान पर किसी दूसरी वस्तु के धर्म का स्थापन किया जाय।

है न सुधा यह, है सुधा, संगति साधु-समाज।
नहीं हलाहल गरल है, दुष्ट-वचन विष आँहि।

इनमें सुधा को सुधा न कह कर साधु-समाज की संगति में सुधा का धर्म कहा गया है; ऐसा ही दूसरे में भी है।

नोटः—इसमें प्रायः उस वस्तु के नाम का दो बार प्रयोग होता है, जिसका धर्म छिपाया जाता है। इसे दृढ़ारोप-रूपक भी कहते हैं किन्तु ध्यान रहे कि रूपक में निषेध नहीं होता, इसे हेतु के साथ भी रख सकते हैं। पर्यस्त का अर्थ है फेंका हुआ।

और धर्म लै थापिये, सांचौ धर्म दुराय ।
पर्यस्तापन्हुति तहाँ, कहत 'सरस' कविराय ॥

(४) भ्रान्त्यापन्हुतिः—सत्य बात कह कर जहाँ किसी भ्रम, जो उस बात को असत्य ठहरा कर कुछ और समझ लेने से होता है; दूर किया जाय। यहाँ असत्य बात का निषेध करके सत्य बात का स्थापन किया जाता है। यथाः—

कह प्रभु हँसि जनि हृदय डराहू। लूक न, असनि, केतु नहिं राहू ॥
ये किरीट दसकंधर केरे। आवत बालि-तनय के प्रेरे ॥

यहाँ रावण के किरीटों को अशनि आदि के भ्रम से भयभीत हुये वानरों की आशङ्का सत्य बात से दूर की गई है।

नोटः—भ्रम, कल्पित और सम्भव दो प्रकार का हो सकता है। जिससे इसके भी दो रूप हो सकते हैं। भ्रान्त्यापन्हुति में जहां भ्रम का निवारण होकर सत्य वस्तु का निश्चयात्मक-ज्ञान हो जाता है वहां निश्चयालङ्कार माना गया है।

भ्रान्त्यापन्हुति साँच कहि, भ्रम कौ देत दुराय।

(५) छेकापन्हुतिः—जहाँ किसी सत्य बात को प्रगट कर चुकने पर उसे गोपनीय समझ, चतुरता से फिर छिपाया जाय और दूसरी असत्य बात से शङ्का के निवारण का प्रयत्न किया जाय। यथाः—

कछु न परिच्छा लीन्ह गोसाईं,
कीन्ह प्रणाम तुम्हारेहिं नाईं।

यहाँ परीक्षा लेने के भाव को उसे अनुचित समझ छिपाया गया है, और दूसरी पंक्ति में प्रणाम करने की बात कहकर शङ्का दूर की गई है।

नोटः—भ्रान्त्यापन्हुति का यह विलोम रूप है (छेक का अर्थ है चतुराई) क्योंकि भ्रान्त्यापन्हुति में मिथ्या बात-जन्य भ्रम को सत्य से किन्तु इसमें प्रगट किये सत्य को असत्य से छिपा कर उससे उत्पन्न होने वाले भ्रम को सत्य से दूर किया जाता है। इसमें भ्रम का दूर होना आवश्यक नहीं है। प्रायः सत्य-गोपन के लिये तात्पर्यान्तर से सहायता लेने को इसमें श्लिष्ट-पद रहते हैं। यदि इसमें निषेध न रहे तो यही व्याजोक्ति हो जायगी; यदि किसी दूसरे की उक्ति में, न कि अपनी ही उक्ति में तात्पर्यान्तर या अर्थान्तर दिखाया जाय तो वक्रोक्ति हो जायगी। पहेली के मुकरी नामी भेद में यह अलङ्कार बहुत देखने में आता है।

(१) भ्रान्त्यापन्हुति साँच कहि, भ्रम कौ देत दुराय।
(२) छेकापन्हुति 'सरस' कवि, करिये यहि पलटाय॥

(६) कैतवापन्हुतिः—मिस या व्याज आदि शब्दों से जहाँ किसी बात को अन्यथा किया जाय।

रवि निज उदय ब्याज रघुराया, प्रभु-प्रताप सब नृपनि दिखाया।

यहाँ सूर्योदय की सच्ची बात के स्थान पर उसे अन्यथा करते हुये रामचन्द्र की महत्ता स्थापित की गई है और व्याज शब्द रक्खा गया है।

नोटः—ध्यान रहे कि यहां ब्याज वाली और ब्याज से छिपाई जाने वाली दोनों वस्तुओं में कार्य-कारण अथवा उपमान-उपमेय का सा सम्बन्ध रहता है। पर्य्यायोक्ति में इष्ट कार्य की सिद्धि के लिये युक्ति-पूर्ण क्रिया की जाती है जिसके भाव में छल या ब्याज लाया जा सकता

है; किन्तु यहाँ ऐसा नहीं होता वरन् बात के छिपाने के लिये ब्याज से दूसरी बात कही जाती है।

मिस ब्याजादिक पदनि सौं, कहै और को और।
तहाँ छलापन्हुति कहत, 'सरस' सुकवि-सिरमौर॥

सापन्हवोत्प्रेक्षा :—जहां अपन्हुति के साथ उत्प्रेक्षा रक्खी जाती है। कहना चाहिये कि यह दोनों का मिश्रित रूप है और मिश्रालंकारों की कक्षा में आता है। यथाः—

"कमलन कहँ रवि-भिन्न गुनि, मानहु नासन काज।
प्रविसहिं सर, नहिं न्हान-हित, रवि-तापित गजराज॥"

यहां "मानहु" उत्प्रेक्षा-वाचक पद है और "नहिं न्हान हित" निषेधात्मक तथा "नासन-काज प्रविसहिं सर" असत्य-स्थापक पद है, जिससे अपन्हुति बनती है।

अभ्यास

(१) हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा को कैसे पहिचान सकते हो, दोनों के लक्षण उदाहरण देकर समझाओ।

(२) अपन्हुति और उत्प्रेक्षा के मिश्रित रूप को सोदाहरण समझाओ।

(३) ब्याजोक्ति और भ्रान्त्यापन्हुति में क्या अन्तर है, स्पष्ट रूप से लिखो।

(४) अलङ्कार-निर्णय करोः—

कह प्रभु गरल बंधु ससि केरा। अति प्रिय निज उर दीन्ह बसेरा॥
नित्य नहात है छीरधि में ससि तो मुख की समता लहिबे कौ।
नहीं शक्र सुर-पति अहैं, सुरपति नन्दकुमार।
सोभा सदा बढ़ावन हारा, आंखिन ते खिन करौं न न्यारा।

आठ पहर मेरो मन-रंजन, क्यौं सखि ! साजन, नहिं सखि अञ्जन ।
पहिरे स्याम न पीतपट,घन मैं बिज्जु-बिलास ॥
सिव सरजा के कर लसै, सो न होय किरवान ।
भुज भुजगेस भुजङ्गिनी, भखति पौन अरि-प्रान ॥

६. उपमा और उत्प्रेक्षा में क्या भेद है ,दोनों की तुलना करो ।

अतिशयोक्ति

फबि फहरैं अति उच्च निशाना। जिन महँ अटकत विबुध-विमाना॥

गिरि-राज का भाल गगन का चुम्बन कर रहा है ।

प्रथम पंक्ति में झंडों की ऊँचाई का अतिशय वर्णन किया गया है, इसी प्रकार द्वितीय पक्ति में भी हिमालय के शिखरों को गगन का चुम्बन करते कह कर अत्यंत ऊँचा दिखलाया गया है । इसी प्रकार :—

अतिशयोक्ति—वहाँ होती है जहाँ मर्यादा की सीमा से बाहर सा जाकर अत्यंतता के साथ किसी वस्तु का वर्णन किया जाता है । अतिशयोक्ति शब्द का ही यही अर्थ है (अति-शय = बहुत + उक्ति = कथन) ।

नोटः—ध्यान रखना चाहिये कि इस अलङ्कार को बहुत बड़ी प्रधानता दी गई है और इसे समस्त अलङ्कारों का मूल तत्व माना गया है । वास्तव में बात भी कुछ ऐसो ही है, कतिपय अलङ्कार तो स्पष्ट रूप से ही इसी के रूपान्तर से हैं, और कतिपय इसी पर समाधारित हैं । दंडी और रुद्रट ने ऐसा ही माना है और मीलित और अधिक आदि अलङ्कारों को इसी के अन्दर कहा है । उपमा आदि में भी इसका तत्व पाया जाता है ।

"वर्णन अतिसय, 'सरस कवि, अतिशयोक्ति को मर्म।"

इसके मुख्य दो रूप होते हैं :—

(१) सम्बन्धातिशयोक्तिः—जहाँ दो वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध तथा उससे प्रगट होने वाले उत्कर्ष का अतिशय कथन हो।

सम्बन्ध दो प्रकार का होता है; योग्यतामय तथा अयोग्यतामय, अस्तु इस अतिशयोक्ति के भी दो रूप हैं—१-योग्यता में अयोग्यता सूचक तथा २-अयोग्यता में योग्यता का कथन। यथा :—

१. श्री रघुनाथ के हाथन साँमुहे कल्प-लता सनमान करै को।

२. जेहि वर बाजि राम असवारा। तेहि सारदौ न बरनै पारा॥

प्रथम में कल्प तरु, जो आदरणीय है, राम-कर के सम्मुख अयोग्य ठहराया गया है, जिससे राम-कर के औदर्य का उत्कर्ष बढ़ जाये। द्वितीय में घोड़े का उत्कर्ष शारदा से वर्णनातीत ठहराया जाकर दिखलाया गया है, यद्यपि घोड़ा इस उत्कर्ष के अयोग्य है। साथ ही शारद को अयोग्य ठहरा कर उत्कर्ष बढ़ाया गया है। शेष, शारद, नारद, वेद आदि नहीं कह सकते आदि पद इसमें बहुत आते हैं।

नोटः—इन भेदों के साथ सम्बन्ध को सम्भव तथा असम्भव ठहरा कर इसके दो रूप और किये जाते हैं—अस्तु जहाँ यदि, जो आदि शब्दों के साथ सम्भव सम्बन्ध की कल्पना हो वहां तो संभाव्य-

माना किंतु जहाँ जो आदि शब्दों के बिना ही सम्बन्ध सम्भव और निश्चित हो वहां निर्णीयमाना कहते हैं। यथा :—

१. उदित होय जो व्योम मैं, सब विधि बिना कलङ्क।
तौ सिय-मंजुल बदन की, समता लहै मयङ्क॥
२. जो सम्पदा नीच-ग्रह सोहा। सो विलोकिसुर-नायक मोहा॥

प्रथम में जो (यदि) शब्द के साथ मुख और चन्द्र का सम्बन्ध सम्भव कहा गया है और द्वितीय में बिना (यदि) के ही वह निश्चित ठहरा कर कहा गया है, कि सम्पदा (नीच के घर की भी क्यों न हो) इन्द्र को भी मोह लेती है।

सम्बन्धातिशयोक्ति का विलोमरूप हैः—असम्बन्धातिशयोक्ति :—जहाँ वास्तव में सम्बन्ध के होने पर भी सम्बन्ध न ठहराया जाये, वरन् योग्य में आयोग्यता का भान कराके सम्बन्ध-हीनता ही प्रगट की जाये।

(२) भेदकातिशयोक्तिः—जहाँ "और" शब्द के द्वारा उत्कर्ष के साथ उपमेय में अन्यत्व का कथन कर अभेद में भेद दिखलाया जावे।

इसके वाचक शब्द हैं:—औरै, अन्य, न्यारी, तथा इन्हीं के भाव वाले अन्य पद। यथाः—

औरै रीति औरै रंग औरै साज औरै संग,
औरै वन औरै छन औरै मन ह्वै गये।"

नोटः—ध्यान रहे कि इसके अभेद में (भेद न होने पर) भी भेद दिखलाया जाता है किंतु रूपकातिशयोक्ति में ठीक इसके विपरीत होता है, अर्थात् भेद में अभेद दिखलाया जाता है।

(३) रूपकातिशयोक्तिः—जहाँ केवल उपमान ही कहा जाये और उसी से उसके उपमेय का भाव प्रगट किया जावे।

यथा—"अरुन पराग जलज भरि नीके।
सिसहिं देत अहि लोभ अमी के॥

यहाँ राम अपने श्यामल-कर से सीता के मस्तक पर सिंदूर लगाते हैं, तब कवि राम-कर, सिंदूर और सिय-मुख को उपमानों के द्वारा अतिशयोक्ति के साथ उसी भाव को यों व्यक्त करता है।

नोटः—रूपक में अभेद दिखलाते हुए उपमेय पर उपमान का आरोपण किया जाता है, यहां उपमेय रहता ही नहीं, उसका बोध उसके उपमान से ही होता है। इसी के साथ अपन्हुति को भी रख कर सापन्हव रूपकातिशयोक्ति रची जाती है। यथा—

"सरस" सुधा है बसुधा की घटी विद्रुम मैं,
तैसी ससिहू मैं हमैं रंच न दिखाति है।

सूचनाः—कारण-कार्य-सिद्धान्त का अतिशयोक्ति के साथ सामंजस्य करके ३ रूप और रचे गये हैं:—जो कारणातिशयोक्ति के भेद हैं।

१. जहाँ कार्य और कारण दोनों एक साथ ही हों, और स्वभावतः कारण पूर्व और उसके पश्चात् कार्य न हो, वहाँ अक्रमातिशयोक्ति मानी गई है। यथाः—

"बानन के साथ चले प्रान रिपुगन के।"

ध्यान रहे कि यहाँ समयान्तर सम्बन्धी कार्य-कारण के क्रम को ही लिया जाता है। इसके वाचक पद हैं—सङ्ग ही, साथ, उतै, इतै, इधर-उधर आदि। कहीं कहीं ये लुप्त भी रहते हैं।

२. जहाँ कारण के ज्ञात होते ही कार्य हो जावे, कारण उपस्थित भी न हो पावे, उसके पूर्व ही (उसे सुनते ही) कार्य हो। वहाँ चपलातिशयोक्ति मानते हैं क्योंकि इसमें कार्य बड़ी चपलता से चलता है। यथाः—

"सुनतहिं प्रभु-जस पातक भागे।"

यहाँ ईश्वर के यश को सुनते ही (उसके उपस्थित न होने पर भी) पाप भग गये। इसके वाचक पद हैं:—सुमिरत, सुनते ही, कहते, लखतहि आदि।

(३) अत्यंतातिशयोक्तिः – वहाँ कही जाती है जहाँ कारण के प्रथम ही कार्य का होना कहा जाये। यथाः—

ग्राह ग्रहीत गयंद-मुख, कढ़न न पाई त्राहि।
पहिले ही हरि आइकै, निज कर राख्यो ताहि॥

यहाँ हाथी त्राहि भी न कह पाया और हरि ने उसे आकर बचा लिया। अस्तु कारण के पूर्व ही कार्य हो गया।

इसके वाचक पद हैं:—पहिले ही, प्रथमै, पूर्व ही आदि।

भूषन आदि ने इसे अत्युक्ति भी कहा है, किन्तु अन्य आचार्यों ने अत्युक्ति को एक स्वतन्त्र अलंकार माना है।

अप्रस्तुत-प्रशंसा

"मातु-पितहिं जनि शोच बस, करसि महीप-किशोर"।

यहाँ लक्ष्मण का मारना, जिसका कहना इष्ट है, न कह कर उनके मारे जाने के कारण उत्पन्न होने वाले कार्यरूपी पितु-शोक का ही कथन किया गया है और इस प्रकार अप्रस्तुत-कार्य के कथन से प्रस्तुत-कारण को प्रगट किया गया है, अतः—

अप्रस्तुत-प्रशंसाः—वहाँ होती है जहाँ अप्रस्तुत (अप्रासंगिक बात) के कथन से प्रस्तुत (इष्ट-वस्तु या वर्ण्य-विषय) को प्रगट किया जाय।

तात्पर्य यह है कि वर्णनीय-वस्तु का सीधे २ वर्णन न करके ऐसे ढंग से वर्णन किया जाय कि प्रगट रूप में तो वह किसी दूसरी अप्रस्तुत-वस्तु का वर्णन ज्ञात हो, किन्तु उससे कथनीय वस्तु का भी प्रकाशन हो जाय।

नोटः—प्रशंसा का अर्थ यहाँ वर्णन या कथन मात्र ही है, न कि तारीफ़ है। चार मुख्य रूपों में इस प्रकार का कथन किया जाता है और इस कथन को निबन्धन कहते हैं।

(१) **कारण-निबन्धनाः**—जहाँ अप्रस्तुत कारण के द्वारा प्रस्तुत अर्थ या कार्य का कथन हो। यथाः—

भूमि-शयन, बलकल बसन, असन कंद-फल-मूल।
ते कि सदा सब दिन मिलहिं, समय २ अनुकूल॥

यहाँ भूमि-शयन आदि दुखद-कारण अप्रस्तुत हैं, उन्हें कह

कर वन न चलने के अभीष्ट भाव को सूचित किया गया है। सीधे २ वन न चलो, वह नहीं कहा गया।

(२) कार्य-निबंधना:—यह ऊपर समझाया गया है। हाँ, इसका भाव यही है कि अप्रस्तुत-कार्य के कथन से प्रस्तुत एवं इष्ट-कारण का कथन किया जाय।

नोट:—ध्यान रहे कि यहाँ कारण-रूप वाच्यार्थ अप्रस्तुत और कार्य प्रस्तुत होता है और एक ही का कहना इष्ट होता है, किन्तु पर्य्यायोक्ति में कारण और कार्य दोनों प्रस्तुत तथा कथनीय होते हैं, यही दोनों में भेद है।

(३) सामान्य-निबंधना:—जहाँ किसी सामान्य बात (वस्तु) के कथन से किसी विशेष वस्तु या बात को व्यक्त किया जाय। सामान्य वस्तु यहाँ अप्रस्तुत और विशेष-वस्तु प्रस्तुत रहती है। यथा:—

सहि अपमान जो रहत चुप, वा नर सों बर धूर।
जो पद-हत ह्वै उठत अरु, चढ़त हतक-सिर-क्रूर॥

यहाँ पैर से उठकर धूल का सिर पर चढ़ना सामान्य बात है, इससे अपमानित होकर चुप रहने वाले मनुष्य की विगर्हणा, विशेष बात है, प्रगट होती है।

नोट:—इसी के विलोम रूप को विशेष-निबंधना कहते हैं जिस में किसी अप्रस्तुत विशेष बात के कथन से किसी सामान्य प्रस्तुत बात का कथन किया जाता है। यथा:—

"धन्य शेष जो जगत-हित, धारत भुवि को भार"। यहाँ शेष का पृथ्वी-धारण करना विशेष बात है। इससे लोकोपकार के लिये कष्ट उठाने वाले मनुष्य की प्रशंसा की गई है।

(४) सारूप्य-निबंधना:—जहाँ किसी प्रस्तुत बात को व्यक्त करने के लिये उसी के समान किसी अन्य अप्रस्तुत बात का कथन किया जाय, अथवा किसी दूसरे पर ढ़ाल कर जहाँ किसी दूसरे प्रस्तुत व्यक्ति के लिए कोई बात ऐसे चतुरता से कही जाय कि वह दोनों पर घटित हो। यथाः—

"कहा बड़ाई जो भये, श्रीपति ह्वै विख्यात।
दीन-बन्धु जब रावरे, दीन-बन्धु बिललात"॥

अथवा—आप न काहू काम के, डार-पात फल-मूल।
औरन को रोकत फिरत, 'रहिमन' कूर बँबूल॥

यहाँ बँबूल (जो अप्रस्तुत है) पर ढाल कर किसी क्रूर व्यक्ति के लिये (जो प्रस्तुत है और उसी के समान है) कथन किया गया है।

नोटः—इसे अन्योक्ति भी कहा गया हैं। ध्यान रहे कि इसमें समासोक्ति के समान प्रस्तुत का कथन होता है। पर्य्यायोक्ति के समान इसमें प्रस्तुत का वर्णन बिना अप्रस्तुत के घुमा-फिरा कर नहीं किया जाता। इसमें श्लिष्ट-पद रख कर इसे श्लिष्ट भी कर देते हैं, और प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत के सादृश्य मात्र का भी साधारण कथन रखते हैं। कहीं २ असादृश्य या वैधर्म के साथ भी कथन होता है। यथाः—

घास-पात बन चरत त्यों, विचरत रहै स्वतंत्र।
भलो कुरंग, तुरंग तें, जौ न रहत परतंत्र॥

यहाँ कुरंग और तुरंगदोनों का वैधर्म के साथ कथन है, क्योंकि एक स्वतन्त्र है और दूसरा परतंत्र। दोनों अप्रस्तुत हैं और स्वतंत्र तथा परतंत्र व्यक्तियों को सूचित करते हैं।

अभ्यास

(१) अतिशयोक्ति से क्या तात्पर्य है, उदाहरण देकर स्पष्ट करो।

(२) अतिशयोक्ति के मुख्य भेद, उनके लक्षणों के साथ बताओ।

(३) बताओ कौन अलंकार है, और क्यों ?

(अ) औरे हँसनि बिलोकिबो, औरै बचन उदार।

(ब) कह प्रभु गरल बंधु शशि केरा। अति प्रिय निज उर दीन्ह बसेरा॥

(स) संधान्यो प्रभु विशिष कराला। उठी उदधि-उर अन्तर ज्वाला॥

(द) छुवत टूट रघुपतिहिं न दोषू। मुनि बिन काज करिय कत रोषू॥

(य) खंजन, शुक, कपोत, मृग, मीना। मधुप निकर, कोकिला प्रवीना॥

(र) सूपनखा की गति तुम देखी। तदपि हृदय नहिं लागि बिसेखी॥

(ल) राधिका के अँसुआन कौ सागर बाढ़त जात मनौं नभ छ्वैहै।

(४) अप्रस्तुत और प्रशंसा दोनों से क्या तात्पर्य है।

(५) कारण-निबंधना को उदाहरण देकर स्पष्ट करो

——

व्याज-स्तुति

"कहा कहौं, कहत न बनत, सुरसरि तेरी रीति ।
ताके तू सिर पै चढ़ै, जो आवै करि प्रीति ॥"

देखने में तो यहाँ गंगा जी की निन्दा सी जान पड़ती है कि वह अपने प्रेमी के सिर पर चढ़ती हैं, किन्तु इसके तात्पर्य पर ध्यान देने से और यों विचारने से कि गंगा जी अपने प्रेमी के शिर पर बैठ कर उसे शंकर तुल्य कर देती हैं, उनकी स्तुति हो जाती है, इसी प्रकारः—

जहाँ देखने में तो किसी प्रस्तुत वस्तु की निन्दा सी हो किन्तु वास्तव में भाव स्तुति का ही हो अर्थात् जहां निन्दा के बहाने से किसी की स्तुति की जाये वहाँ व्याज स्तुति होती है ।

नोटः—इसका एक रूप यों और किया गया है:—जहां किसी दूसरी वस्तु की स्तुति से किसी दूसरी वस्तु की स्तुति हो । यथाः—

"जासु दूत-बल बरनि न जाई । तेहि आये पुर कौन भलाई ॥"

यहाँ दूत (हनुमान जी) की स्तुति से श्रीराम जी की स्तुति हो जाती है ।

व्याज-स्तुति के विलोम रूप को व्याज-निन्दा कहा गया है, जिसमें ऊपर से तो स्तुति सी जान पड़े किन्तु वास्तव में भाव निन्दा का ही रहे । यथाः—

"धन्य कीश जो निज प्रभु-काजा।
जहँ तहँ नाचहिं परिहरि लाजा" ॥

यहाँ देखने में तो बंदर की प्रशंसा सी लगती है किन्तु वास्तव में है निन्दा ही।

नोटः—इसका भी व्याज स्तुति के समान एक रूप और यों होता है। यथाः—"नीच केकयी मातु अस, सुत की कहिये काह"।

यहाँ कैकेयी की निन्दा से भरत की भी निन्दा हो जाती है।

इन सब में श्लिष्ट पदों से और भी विशेष चमत्कार आ जाता है। कभी कभी अप्रस्तुत प्रशंसा और अन्योक्ति का भी इनके साथ सामंजस्य कर दिया जाता है, और मिश्रालंकार की एक सुन्दर चातुरी दिखलाई जाती है। यथाः—

"सेमर तेरो भाग्य यह, कहा सराह्यो जाय।
पंछी करि फल-आस जो, तुहि सेवत नित आय।"

ध्यान रहे कि साधारण स्तुति और निन्दा के होने पर यह अलंकार नहीं होता। इसमें व्याज-युक्त चातुर्य अति आवश्यक है।

दीपक

काहू के क्यौ हूँ घटाये घटै नहिं, सागर औ गुन-आगर प्रानी।

इसमें गुणी मनुष्य (उपमेय) और सागर (उपमान) दोनों के एक ही धर्म (घटाये घटै नहिं) का कथन किया गया है। अस्तुः—

दीपकः—वहाँ माना जाता है जहाँ प्रस्तुत (उपमेय) और अप्रस्तुत (उपमान) दोनों का एक ही धर्म कहा जाय।

नोटः—यदि केवल उपमेय या केवल उपमान का ही एक ही धर्म कहा जायगा तो तुल्ययोगिता अलंकार हो जायगा। यहाँ दोनों (उपमेय और उसके उपमान) में एकधर्मता का होना आवश्यक है। इस धर्म की एकता का कारण कहीं तो स्पष्ट रहता है और कहीं नहीं, कहीं २ भिन्न कारणों के होने पर भी धर्म एक ही रहता है। यथा उक्त उदाहरण में।

वस्तुतः यह अलंकार तुल्य योगिता का ही एक रूप है। इसके अन्य मुख्य रूप ये हैंः—

१—आवृत्ति-दीपकः—जिसमें एक अर्थ वाले भिन्न २ पद, भिन्न अर्थ वाले एक से शब्द और एक अर्थ वाले एक से पदों की आवृत्ति हो। वस्तुतः यह आवृत्ति-मूलक ऐसा शब्दालंकार है, जिसमें अर्थ को भी कुछ विशेषता दी जाती है। यथाः—

(क) पदावृत्तिः—जहाँ अर्थान्तर के साथ एक पद की आवृत्ति हो।

जप-तप कछु न होइ यहि काला।
हे विधि! मिलै कौन विधि बाला॥

(ख) अर्थावृत्तिः—जहाँ भिन्न २ शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में हो।

दिसि २ विकसे कुंज-बन, फूले रुचिर-रसाल।

नोटः—इसमें एकार्थवाची भिन्न २ शब्दों का प्राधान्य रहता है और अर्थ की आवृत्ति होती है। कहीं २ एक ही अर्थ को भिन्न २ शब्द प्रगट करते हैं और कहीं वे सदृश अर्थ प्रगट करते हैं। उक्त उदाहरण में तो एक अर्थ और—

"जल-खग कूजत, गूंजत भृङ्गा"। में 'कूजत' और गूंजत' समान अर्थ प्रगट करते हैं।

(ग) पदार्थावृत्तिः—जहा शब्द और अर्थ दोनों की आवृत्ति हो। यथाः—

भले भलाई पै लहैं, लहैं निचाई नीच।
सुधा सराहिय अमरता, गरल सराहिय मीच॥

नोटः—स्मरण रहे कि इसमें केवल क्रिया-पदों की ही आवृत्ति होती है, यमक से यह अपने अर्थ सम्बन्धी चमत्कार तथा अर्थावृत्ति के कारण प्रथक है। यमक में अर्थ-पार्थक्य प्रधान रहता है। वीप्सा में ज़ोर देने के लिये और पुनिरुक्ति-प्रकाश में रोचकता के लिये ऐसी आवृत्ति होती है।

दीपक के अन्य भेद।

लेत, चढ़ावत, खैंचत गाढ़े, काहु न लखा रहे सब ठाढ़े।

यहाँ समस्त क्रिया-पदों का सम्बन्ध राम—एक ही कर्ता—से है। अस्तु

जहाँ कई क्रियाओं का सम्बन्ध एक ही कर्ता से दिखलाया जावे और क्रियाओं का क्रम उनसे व्यक्त होने वाले कार्य्यों के ही अनुकूल रहे वहाँ कारक-दीपक माना

जाता है। यह व्याकरण-सम्बन्धी वाक्य-सांकोच्य पर आधारित है।

नोटः—यदि इसमें क्रियाएँ भाववाचक कार्यों को सूचित करते हुये कार्यों के साथ यथाक्रमता न रक्खें और कार्यों को एक साथ होता हुआ प्रगट करें तो समुच्च अलंकार हो जायगा। जहाँ अनेक कर्ताओं के साथ एक ही क्रिया का सम्बन्ध होता है वहाँ दीपक का दूसरा रूप जानना चाहिये (देखिये श्री० 'रसाल' जी कृत अलंकार-पीयूष) यथाः—सुर,नर, मुनि सब की यह रीती। स्वारथ लागि करैं सब प्रीती। जहाँ भिन्न २ क्रियाओं और उनके कर्ताओं की माला हो वहाँ इसका तृतीय और जहाँ अनेक क्रियाओं के एक कर्म आदि अथवा एक क्रिया के अनेक कर्मादि हों वहां चतुर्थ-रूप जानना चाहिए।

रस सों काव्य, सुकाव्य सों बानी सोभावान।
बानी ही सों सुकवि जन, तिन सों सभा-महान॥

यहाँ पूर्ववर्ती वस्तुयें उत्तर-वर्ती वस्तुओं की उत्कर्षक या उपकारक हैं, और सब का अन्वय एक ही क्रिया-पद के साथ होता है। अस्तुः—

मालादीपकः—वहाँ होता है जहाँ पूर्ववर्ती वस्तुएँ परवर्ती वस्तुओं की उपकारिणी या उत्कर्ष-कारिणी हों।

नोटः—इसे दीपक और एकावली का मिश्रित रूप कहा गया है। जहाँ एक पद या शब्द दो वाक्यों के साथ अन्वय रखता हुआ घटित होता है वहां देहरी-दीपक नाम से दीपक का एक रूप और माना गया है। यथाः—यहाँ न पद में देहरी दीपक है।

चाहत बिजै कौ सारथी जो कियो सारथ तौ,
बक्र करौ भृकुटी यह न चक्र करौ कर मैं।

उपमेयऽगुरु उपमान में, एक धर्म जहँ होय।
हेतु भिन्न हो 'सरस कवि', दीपक कहिए सोय ॥ १

भिन्न शब्द पै अर्थ इक, अर्थ भिन्न पद एक।
दीपक मैं कहुँ दुहुँन की, आवृति सहित विवेक ॥ २

आवृति दीपक है तहाँ, 'सरस' कहै सप्रमान।
करता इक पै बहु क्रिया, कारक-दीपक जान ॥ ३

माला दीपक-पूर्व-पद, उत्तर कर उपकार।
देहरी दीपक न्यायहू, दीपक एक प्रकार ॥ ४

निदर्शना

जो अति सुभट सराह्यो रावन। सो सुग्रीव केर लघु-धावन ॥

यहाँ दो वाक्यों में अर्थ की प्रथकता होते हुये भी एक प्रकार की समता सी दिखलाई गई है। अतः—

निदर्शनाः—वहाँ कही गई है जहाँ दो भिन्न अर्थों के प्रगट करने वाले वाक्यों में ऐसा विधान किया जाय कि वे एक से जान पड़ें। इसके वाचक हैं:—जो, सो, जे, ते आदि। कहीं २ इनका लोप भी कर दिया जाता है। यथाः—

अस कहि फिरि चितये तेहि ओरा।
सिय-मुख ससि भे नयन चकोरा॥

यहाँ उपमान (शशि और चकोर) के गुण उपमेय (मुख और नयन) में दिखलाये गए हैं। यह भी इसलिए निदर्शना का दूसरा-रूप माना गया है।

नोटः—जहाँ कार्य-कारण-भाव में रूप सम्बन्ध दिखाया जाकर रूप और कारण के सम्बन्ध को क्रिया के द्वारा प्रगट किया जाता है वहाँ भी द्वितीय निदर्शना मानते हैं।

तृतीय-निर्दना—द्वितीय का विलोम है, अर्थात् उसमें उपमेय के गुणों को उपमान के अंगों में स्थापित किया जाता है। यथाः—

"तव बचनन की मधुरता, रही सुधा महँ छाइ"।
यहाँ उपमेय (बचन) का गुण (माधुर्य्य) उपमान (सुधा) पर स्थापित किया गया है।

दै पराग मधु-रस-मधुर, अरु सुबास ह्व फूल।
सुकवि 'रसाल' सिखाव यह, पर-हित जीवन-मूल॥

फूल यहाँ अपने पराग आदि के प्रदान से परोपकार की शिक्षा देता हुआ कहा गया है। जहाँ इस प्रकार कोई अपने व्यवहारादि से दूसरों को सिखाता हुआ कहा जाता है वहाँ निदर्शना का चौथा-रूप माना गया है।

नोटः—असत् क्रिया से प्रधानता के साथ असदर्थ को प्रगट कर के भी किसी २ ने पाँचवाँ रूप रखा है, किन्तु यह चौथे का विलोम ही है। कहीं २ निदर्शना की माला भी देखी जाती है। यथा:—

चहत गरल पीबो तथा लीबो पावक हाथ।
गहिबो चहै भुजंग जो, किया चहै खल साथ॥"

अभ्यास।

(१) कारक-दीपक का व्याकरण से क्या सम्बन्ध है, लक्षण और उदाहरण देते हुए स्पष्ट करो।

(२) बताओ कौन अलङ्कार है:—

दै सुफूल, फल, दल, विटप; यह उपदेसत ज्ञान।
लहि सुख-सम्पति कीजिए, आये को सनमान॥

राम चरन अवलम्ब बिनु, परमारथ की आस।
'तुलसी' बारिद बूँद-गहि. चाहत चढ़न अकास॥ २

सुनीं, गुनीं, समुझीं तिहारी चतुराई हम,
कान्ह की पढ़ाई कविताई कूबरी की है। ३

जमुना तुम अविवेकिनी, कौन लियो यह ढंग।
पापिन सों निज बन्धु को, मान करावहु भंग॥ ४

(३) तुल्ययोगिता और प्रथम-दीपक में क्या अन्तर है।

(४) समुच्चय और कारक-दीपक की तुलना करो।

तुल्ययोगिता

"गुरु, रघुपति, सब मुनि मन मांही ।
मुदित भये पुनि २ पुलकाहीं ॥"

जैसा दीपक में दिखलाया गया है यहाँ गुरु आदि कई प्रस्तुतों का द्वितीय पंक्ति से सूचित एक ही धर्म दिखलाया गया है—अतः

तुल्य-योगिता:—जहां कई प्रस्तुतों के एक ही धर्म का कथन हो, चाहे वह गुण के द्वारा हो या क्रिया के द्वारा, वहाँ तुल्य-योगिता होती है ।

नोटः—इसका शब्दार्थ है योग्यता से तुल्यता या समता प्रगट करना । हिताहित में एक ही वृत्ति दिखलाने पर भी यही अलङ्कार होता है ।

इसके मुख्य चार रूप माने गए हैं:—

(अ) उक्त प्रथम रूप के विपरीत जहाँ कई अप्रस्तुत हों या उपमानों का एक ही धर्म कहा जाय वहाँ इसका द्वितीय रूप होता है । यथाः—

चन्दन, चम्पक, चूर-कपूर हूँ फीके परैं हरि-हास के आगैं ।

यहाँ चन्दन आदि अप्रस्तुतों (उपमानों) के एक ही धर्म का कथन किया गया है ।

(ब) कई वस्तुओं के उत्कृष्ट गुणों को एक ही वस्तु में जहाँ दिखाया जाता है, वहाँ तृतीय-रूप होता है । यथाः—

मित्र, मातु, पितु, बन्धु, गुरु, साहब मेरे राम।

यहाँ राम में ही पितु आदि के उत्कृष्ट गुण कहे गये हैं।

नोटः--यदि इसमें कई उपमानों के उत्कृष्ट गुणों को रखते हुये प्रस्तुत के साथ उन की समता न दिखाई जाकर एक ही प्रस्तुत का कई प्रकार से कथन किया जाय तो उल्लेख का द्वितीय रूप हो जायगा। ध्यान रहे कि इसमें गुणों की भिन्नता का भाव भी रहता है। उल्लेख में समता का भाव न रह कर केवल गुण-कथन ही रहता है।

(स) जहाँ हिताहित में एक ही या सम वृत्ति रहे वहाँ चतुर्थ-रूप कहा गया है। यथाः—

ऊँच नीच सब में रहै, गंग एक तव वृत्ति।

नोटः—शत्रु और मित्र में भी समान भाव दिखाने पर यही अलङ्कार मानते हैं। किसी २ ने इसे दीपक का एक विशेष रूप कहा है।

अप्रस्तुत प्रस्तुतन में, एक धर्म जहँ होय।
तुल्ययोगिता 'सरस' कवि, तहँ बरनत सब कोय ॥१॥
कहुँ अप्रस्तुत में कहूँ, प्रस्तुत में एक धर्म।
इक में गुण उत्कृष्ट बहु, ऐसो कहिये मर्म ॥२॥
शत्रु-मित्र हित-अहित में, रहै इक सो चित्त।
तुल्य योगिता चारि विधि, 'सरस' सुनाइय नित्त ॥३॥

प्रतिवस्तूपमा

" तिनहिं सुहात न अवध बधावा।
चोरहिं चाँदनि रात न भावा॥"

यहाँ प्रथम-पद तो उपमेय वाक्य है। और द्वितीय उपमान वाक्य है, दोनों का 'सोहात न' और 'न भावा' प्रथक २ पदों के द्वारा एक ही धर्म कहा गया है। अस्तुः—

प्रतिवस्तूपमाः—वहाँ होती है जहाँ उपमेय और उपमान सम्बन्धी वाक्यों में एक अथवा समान अर्थ के प्रगट करने वाले प्रथक शब्दों के द्वारा एक हो या समान धर्म कहा जाय।

नोटः—दो प्रथक शब्दों से एक ही धर्म के व्यक्त करने में वस्तु प्रतिवस्तु भाव माना जाता है, और यही भाव यहाँ प्रधान रहता है। ध्यान रहे कि अर्थावृत्ति-दीपक के समान इसमें भिन्न २ शब्दों से एक ही अर्थ की आवृत्ति नहीं होती और न अर्थान्तरन्यास के सामान्य और विशेष भाव से इष्टार्थ का समर्थन ही किया जाता है। तुल्ययोगिता और दीपक में उपमा वाचक शब्दों के बिना समान धर्म कहा जाता है, और जहाँ बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव के साथ समान धर्म दिखलाया जाता है वहाँ दृष्टान्त माना जाता है। कहीं २ वैधर्म्य के कथन में भी प्रतिवस्तूपमा होती है और काकु के द्वारा या विरोधी शब्दों के द्वारा एक धर्म का कथन होता है। कहीं २ इसकी माला भी देखी जाती है। यथाः—

पंडित जन को श्रम मरम, जानत जे मति धीर।
कबहूँ बाँझ न जानहीं, तन प्रसूत की पीर ॥ इत्यादि

यहाँ वैधर्म्य का प्राधान्य है। तथाः—

विधि केहि भाँति धरौं उर धीरा।
सिरस सुमन किमि बेधहिं हीरा ॥ में काकु से विरोधी पदों के द्वारा भी एक ही धर्म दिखलाया गया है।

उपमानऽरु उपमेय द्वय, वाक्यन में सम धर्म।
भिन्न शब्द दै कहिय यह, प्रतिवस्तुपमा मर्म ॥

दृष्टान्त।

कुलहिं प्रकासै एक सुत, नहिं अनेक सुत निंद।
चन्द एक सब तम हरै, नहिं उडगन के बृंद ॥

यहाँ दो प्रथक वाक्य हैं, दोनों के धर्म भी अलग अलग हैं तौ भी दोनों में एक प्रकार की समता सी दिखलाई गई है, एक दूसरे का प्रतिबिम्ब सा है। अस्तुः—

दृष्टान्तः--वहाँ होता है जहाँ उपमेय एवं उपमान-सम्बन्धी दो प्रथक वाक्यों में, धर्मों की भिन्नता होने पर भी, बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से (एक को दूसरे की छाया या प्रतिविम्ब रूप से) एक प्रकार की समानता सी दिखलाई पड़े।

नोटः—ध्यान रहे कि यहां बिना किसी वाचक पद के ही समानता दिखलाई जाती है। प्रति-वस्तूपमा में साधारण धर्म के साथ

वस्तु-प्रति-वस्तु भाव रहता है, अर्थात् भिन्न २ शब्दों के द्वारा दो वाक्यों में एक धर्म दिखलाया जाता है किन्तु यहाँ ऐसा नहीं होता। अर्थान्तरन्यास में सामान्य-विशेष भाव प्रधान रहता है, अस्तु वह भी इससे प्रथक है। इससे मिलता हुआ उदाहरण अलङ्कार है, किन्तु उसमें भी ऐसी बात नहीं रहती वरन् ज्यों, त्यों, जैसे आदि बाचक पदों के द्वारा किसी विशेष बात से समता दिखलाई जाती है। दृष्टान्त में कवि का लक्ष्य उपमान वाक्य से और उदाहरण में उपमेय वाक्य से होता है। अर्थान्तरन्यास में दृष्टान्त के समान दो सम-वाक्यों में एकता न दिखाई जाकर एक वाक्य का समर्थन दूसरे वाक्य से किया जाता है। कहीं साधारण का विशेष से और कहीं विशेष का साधारण बात से समर्थन होता है, दृष्टान्त में साधारण की साधारण से और विशेष की विशेष से समता की जाती है। दृष्टान्त की माला भी देखी जाती है।

"उपमेयऽरु उपमान जहँ, वाक्य करिय सम लाय।
भाव बिम्ब प्रतिबिम्ब लै, सो दृष्टान्त कहाय॥"

उदाहरण।

"जगत जनायो जेहि सकल, सो हरि जान्यौ नाहिं।
ज्यौं आँखिन सब देखिये आँखि न देखी जाहिं॥

यहाँ दो वाक्य हैं, और ज्यों वाचक पद है, इसके द्वारा अदृष्ट या अज्ञात रहने की विशेष बात से समानता की गई है। अस्तु:—

उदाहरणः—वहाँ होता है जहाँ किसी विशेष बात से दो वाक्यों में वाचक पदों के द्वारा समता दिखलाई जावे, या किसी बात की पुष्टि उससे समानतः रखने वाली दूसरी बात से वाचक पदों के द्वारा की जावे।

नोटः—इसके समान दृष्टान्त अलङ्कार होता है, दोनों का भेद हम दिखला चुके हैं। इसके वाचक पद हैंः—यौं, ज्यौं, त्यौं, यथा, तथा, जैसे, तैसे आदि।

"वाक्य-द्वय सम कीजिये, जहँ वाचक पद लाय।
"सरस" सुकवि तहँ सर्वदा, उदाहरण कहलाय॥"

अर्थान्तरन्यास।

"बड़े न हूजै गुननि बिनु, बिरद बड़ाई पाय।
कनक धतूरे सों कहत, गहनो गढ़ो न जाय॥"

इस दोहे के पूर्वार्द्ध में एक सामान्य बात कही गई है और उत्तरार्द्ध की विशेष बात से उसी की पुष्टि की गई है, इसी प्रकारः—

हरि-प्रसाद गोकुल बच्यो, का नहिं करहिं महान।

इसके पूर्वार्द्ध की विशेष बात की पुष्टि उतरार्द्ध की सामान्य बात से की गई है। अस्तुः—

अर्थान्तरन्यासः—वहाँ होता है जहाँ किसी सामान्य या

साधारण बात का समर्थन किसी विशेष बात से हो या किसी विशेष बात की पुष्टि सामान्य बात से की जावे।

"कैसहु पितु के बचन तऊ, घालिय बिनहिं विचार।
परसुराम मारी जननि, पितु-आयसु सिर धारि॥"

नोटः—यह बात यों ही है, ऐसा कह कर संदेह का निवारण करना समर्थन या पुष्ट करना है, यहां साधारण और विशेष दोनों बातों में से एक तो प्रस्तुत और दूसरे अप्रस्तुत रूप में रहती है। ध्यान रहे कि यह समर्थन साधर्म्य या वैधर्म्य दोनों के साथ हो सकता है। जैसा ऊपर कहा गया है। इसके दो रूप होते हैं:—

१-सामान्य से विशेष की पुष्टि और २-विशेष की सामान्य से पुष्टि—यह दोनों एक दूसरे के विलोम रूप हैं, इन्हीं के साधर्म्य और वैधर्म्य के आधार पर दो दो और रूप हो जाते हैं।

सूचना:—इसका दृष्टान्त आदि से भेद प्रथम दिखाया गया है। काव्य-लिङ्ग में भी ऐसा ही समर्थन होता है किन्तु उसमें इसके समान समर्थन उदाहरणवत न हो कर कारणवत होता है, काव्य-लिङ्ग में समर्थन अनिवार्य होता है क्योंकि बिना उसके शंका सी बनी रहती है, किन्तु इसमें समर्थन के बिना भी काम चल सकता है। अप्रस्तुत प्रशंसा में, इसके समान सामान्य एवं विशेष दोनों में से एक ही प्रगट रहता है। यहाँ हेतु-सूचक बात समर्थक रूप में रहती है, अनुमान के समान ज्ञापक और काव्य-लिङ्ग के समान सूचक या निष्पा-

दक रूप में नहीं होती और न हेतु के समान उत्पादक रूप में ही रहती है।

पुष्ट करिय सामान्य जहँ, कहि विशेष कछु पास।
जहँ विलोम याको तहाँ, है अर्थान्तर-न्यास ॥

अभ्यास।

१. दृष्टान्त और उदाहरण का अन्तर सोदाहरण समझाइये।

२. बताइये कौन अलङ्कार है और क्यों ?

धूरि चढ़ी नभ पौन-प्रसंग ते, कीच भई जल-संगति पाई।

कारन ते कारज कठिन, होय दोष नहिं मोर।
कुलिस-अस्थि ते, उपल ते, लोह कराल कठोर॥

बुरो बुराई जो तजै, तौ चित खरो सकात।
ज्यौं निकलङ्क मयंक लखि, गुनैं लोग उतपात।

३. अर्थान्तरन्यास की स्पष्ट व्याख्या करो और दृष्टान्त से उसे प्रथक करो।

४. उपमा और उदाहरण में क्या विशेष बातें हैं स्पष्ट रूप से लिखो।

काव्य-लिङ्ग

करौ कछुक जनि कुटिलता, तजौ न दीन दयाल।
दुखी होहुगे सरल हिय, बसत त्रिभंगीलाल ॥१

प्रभु का सरस गुन-गान न करके विरस बातें करती है, आखिर 'रसना' ही ठहरी २।

उक्त दोहे में कवि हरि से अपनी कुटिलता के न छोड़ने का समर्थन करता हुआ कहता है कि मेरे सरल हृदय में तुम त्रिभंगी होकर रह नहीं सकते। इसी प्रकार रसना शब्द के अर्थ से उसकी विरक्त बातों के करने को पुष्ट किया गया है। दोनों में युक्ति-चमत्कार से बात का समर्थन किया गया है, अस्तुः—

काव्यलिंग :—वहाँ होता है जहाँ किसी बात का समर्थन किसी हेतु-रूपी युक्ति से किया जाता है।

नोटः—काव्यलिंग का भाव है काव्य-गत बात का लिंग (हेतु या चिन्ह) से समर्थन करना, यह युक्ति-मय हेतु सूचक रूप में ही रहता है, उत्पादक-रूप में नहीं; अन्यथा हेतु अलङ्कार हो जाता है। हेतु में स्वभाव और प्रमाण भी आते हैं। उत्पादक-हेतु से कार्योत्पत्ति दिखलाना दूसरी बात है और किसी बात का समर्थन किसी सूचना देने वाली बात से करना दूसरी बात है।

"अर्थ समर्थन कीजिये, युक्ति हेतु मय देय।

काव्यार्थापत्ति।

जितेहुँ सुरासुर तब श्रम नाहीं। नर-बानर केहि लेखे माहीं १॥

जब सिंह को पछाड़ दिया तब स्यार की क्या बात है २॥

यहाँ प्रथम पंक्ति में सुरासुर के जीतने के अन्दर और सब

का जीतना भी एक प्रकार से आ जाता है, इसका द्वितीय पद यों ही रख दिया गया है। अस्तुः—

काव्यार्थापत्तिः—वहाँ होता है जहाँ न कहा हुआ भाव या अर्थ भी उचित बात के अन्दर आ जावे। अर्थात् पूर्व गत भाव में एक और तद्गत या तत्सूच्य भाव आ जाय।

नोटः—यह कोई विशेष रोचक और आवश्यक अलङ्कार नहीं।

विकस्वर

बड़ी विपति पांडवन पै, खोई हारि सुवाम।
दुख न गनत कछु सत पुरुष, ज्यों हरिचँद, नल, राम॥

प्रथम पंक्ति में एक विशेष बात कही गई है और उसका समर्थन हुआ है एक सामान्य वाक्य में, जो द्वितीय पंक्ति के पूर्वार्द्ध में है और आगे फिर उसको हरिचंद्र आदि वाले विशेष पद से समर्थित किया गया है। अतः—

विकस्वरः—वहाँ होता है जहाँ किसी विशेष बात का प्रथम एक सामान्य बात से समर्थन करके फिर उसे एक विशेष उदाहरण से पुष्ट करते हैं।

नोटः—ध्यान रहे कि यहां विशेष बात को प्रतिपादित करने वाली सामान्य बात प्रसिद्ध एवं संतोष-प्रद नहीं होती इसीलिये उसको पुष्ट करने के लिये एक विशेष उदाहरण की आवश्यकता होती हैं। कहीं

तो यह अन्तिम प्रतिपादन उपमान-वाक्य से होता है और कहीं अर्थान्तरन्यास से। कोई २ इसे अर्थान्तरन्यास का ही एक विशेष रूप मानते हैं।

व्यतिरेक

"मुख है अम्बुज, सो सही, मीठी बात विशेष"
"जिनके जस-प्रताप के आगे। ससि मलीन, रवि सीतल लागे॥"

यहां प्रथम पंक्ति में मुख उपमेय है और अम्बुज उपमान है किन्तु मुख में अम्बुज की अपेक्षा मधुर भाषण का गुण अधिक कहा गया है, किन्तु द्वितीय पंक्ति में यश और प्रताप (जो उपमेय हैं) की अपेक्षा ससि और रवि (जो उपमान हैं) हीन कहे गये हैं। अस्तुः—

व्यतिरेकः—वहां होता है जहाँ उपमान की अपेक्षा उपमेय में कुछ विशेषता दिखलाई जाती या उपमान को उपमेय की अपेक्षा हीन कहा जाता है।

नोटः—इसके दो रूप होते हैं १—उपमेय में उपमान से कुछ विशेषता हो—२—उपमान में कुछ न्यूनता हो।

इनके अतिरिक्त कहीं उपमेय के उत्कर्ष और उपमान के अपकर्ष का हेतु भी दिया जाता है, कहीं नहीं भी दिया जाता, कहीं उपमान की न्यूनता का ही या कहीं उपमेय की विशेषता का हेतु दिया जाता है। ऐसे स्थानों में इसे हेत्वात्मक-व्यतिरेक

मानना चाहिये। कहीं २ इसे श्लिष्ट भी कर दिया जाता है।

'कहुँ उपमेय विशेष कहि, कहूँ न्यून उपमान।
कहिय तहाँ पै "सरस कवि" बस व्यतिरेक बखान॥

सार

तृन ते लघु है तूल, तूलहु ते लघु मांगनो।

"मृदु मखमल, ताते मृदुल, है मृनाल जग ख्यात।
ताहू ते कोमल महा, राम रावरो गात॥

यहां दोहे में मखमल, मृणाल, और राम-शरीर में उत्तरोत्तर मृदुता की विशेषता कही गई है, अस्तु:—

सार:—वहाँ होता है जहाँ वस्तुओं में (जो उपमान के रूप में हों) उत्तरोत्तर उत्कर्ष या अपकर्ष दिखलाते हुये अभीष्ट वर्ण्य वस्तु में उसकी समाप्ति की जावे।

नोट:—इसे "उदार" की भी संज्ञा दी गई है, तथा इसमें रूप, गुण, आदि कई प्रकार के उत्कर्ष या अपकर्ष के दिखलाने का विधान किया गया है। एक विषयता या अनेक विषयता के आधार पर इसके दो भेद भी किये गये हैं।

"वस्तु विशेष कि न्यून जहँ, उत्तर उत्तर होय।
सुकवि "सरस तहँ कहत है, सार सुभूषन सोय॥"

प्रौढ़ोक्ति

तेरो जस, सुरसरित के, पुंडरीक लौं सेत"

यहाँ कमल की उज्वलता का कारण उसका गंगा जी में (जो उज्वल हैं) उत्पन्न होना कहा गया है, वास्तव में बात यह नहीं है। अस्तुः—

प्रौढ़ोक्तिः—जहाँ उक्ति को प्रौढ़ करने के लिये किसी वस्तु के उत्कर्ष का जो हेतु नहीं भी है उसे भी हेतु कल्पित किया जावे।

नोटः—किसी २ ने इसे सम्बन्धातिशयोक्ति का एक विशेष रूप कहा है, दोनों में सादृश्य भी है, और उसकी पुट इसमें रहती भी है।

"जो न हेतु उत्कर्ष को, ताहि हेतु दरसाय।
प्रौढ़ोकति तँह कहत हैं, 'सरस' सदा कविराय॥

अभ्यास

१. काव्यलिङ्ग में विशेष बात क्या है, वह हेतु कैसे हो सकता है।

२. अर्थान्तरन्यास और विकस्वर में क्या अन्तर है, सोदाहरण लिखो।

३. व्यतिरेक का लक्षण लिखते हुये गद्य में उदाहरण देकर उसकी विशेषतायें समझाओ।

५, बताओ कौन अलंकार कहाँ और क्यों हैं:—

१. आग भरे खरे वंस की ह्वै, यह बांसुरी काहे न जीय जरावै।

२. रत्न अनंत जनक हिम परबत । महिमा घटै न जो सीतल अति।
डूबत एक दोष गुण गण मैं । ससि-कलंक जैसे किरनन मैं ॥

३. बड़े न हूजै गुनन बिन, बिरद बड़ाई पाय ।
कनक धतूरे सों कहैं, गहनों गढ़ो न जाय ।

४. अब न मोहि डर विघन को, करत कौनहू काज ।
गन-नायक गिरजा-तनय, भये सहायक आज ॥

५. पंकज पांति की बात कहा, उन कोमलता लई जीति गुलाब की॥

सहोक्ति

"सज्जन-जन के संग ते विमल होत है चित्त ।"

संग शब्द के द्वारा यहाँ एक ही शब्द 'होत है' से भाव की पूर्ति की गई है । अस्तुः—

सहोक्तिः—वहाँ होती है जहाँ संग, साथ या इसके पर्य्यायीवाची शब्दों को रख कर एक ही शब्द के द्वारा एक प्रधान भाव और दो या अधिक भावों की पूर्ति की जाती है ।

नोटः—अनेक मनोरम बातों का रखना भी इसका लक्षण माना गया है तथा इसे अतिशयोक्ति पर आधारित कहा गया है । इसमें कहीं २ श्लेष की भी पुट रहती है और कार्य-कारण के पौर्वापर्य्य-विपर्य्य रूप की अतिशयोक्ति भी रहती है । ध्यान रहे कि इसमें अनौपम्य भावका रहना अनिवार्य्य है, संग, साथ आदि केवल इसके वाचक पद हैं ।

संगादिक पद सों कहिय, जहाँ मनोरम-भाव।
तँह सहोक्ति भूषण 'सरस', कहत सुकवि करि चाव॥

विनोक्ति

"जिय बिनु देह, नदी बिनु बारी।
तैसेहि नाथ पुरुष बिनु नारी॥"
"भावत हैं मन को मधुर, बिनु कटुतामय बैन।"

यहाँ प्रथम पंक्ति में एक वस्तु (प्रस्तुत) किसी अन्य वस्तु (अप्रस्तुत) के बिना अशोभित कही गई है और दूसरी पंक्ति में प्रस्तुत या वर्ण्य वस्तु अप्रस्तुत वस्तु के बिना रमणीक या शोभित कही गई है। अस्तुः—

बिनोक्तिः—वहाँ होती है जहाँ किसी वर्ण्य वस्तु को किसी अप्रस्तुत वस्तु के बिना कहीं तो अशोभित और कहीं शोभित कहा जाय।

नोटः—इसके वाचक-शब्द बिनु, बिना अथवा इसी अर्थ वाले दूसरे पद हैं और इसके दो रूप होते हैं, जैसा ऊपर दिखाया गया है। कहीं २ दोनों का मिश्रित रूप भी मिलता है और कहीं २ वाचक-पदों के बिना भी (उसका लोप करके) विनोक्ति का भाव प्रगट किया जाता है। यथाः—श्रुति-सेवत लोचन कहा, लख्यो न जो हरि रूप। अर्थात् बिना हरि-रूप दर्शन के श्रुति-सेवी नेत्र शोभा नहीं देते।

"कछु बिनु कछु सोभित लगै, कछु बिनु कछुक न सोह।
तहँ बिनोक्ति है 'सरस' कवि, वाचक-पद 'बिनु' जोह" ॥

समासोक्ति

"कुमुदिनहि प्रमुदित भई, साँझ कलानिधि जोय।"

इस पंक्ति में कवि संध्या समय में चन्द्रोदय देख कुमुदिनी का विकसित होना प्रगट करता है। किन्तु इसी के साथ इससे दूसरा भाव भी प्रगट होता है और वह यह है कि संध्या समय में आने की प्रतिज्ञा करने वाले प्रिय व्यक्ति की प्रतीक्षा करने वाला संध्या को देख कर प्रसन्न होता है। यह भाव अनायास ही आ गया है और कवि का इच्छित अर्थ भी नहीं है। अस्तु :—

समासोक्तिः—जहाँ कवि के प्रस्तुत या कथनीय (इच्छित) अर्थ के अतिरिक्त श्लेष अथवा श्लिष्ट-पदों या शब्द-विशेष के संगठन से कोई अप्रस्तुत-भाव भी अनायास ही आभासित हो और इस प्रकार प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों पर एक ही वाक्य घटित हो।

नोटः—श्लिष्ट और अश्लिष्ट इसके दो रूप हो जाते हैं। ध्यान रहे कि यहाँ विशेषण-पद ही दोनों भावों पर घटित होने वाले होकर अर्थ-साम्य मूलक होते हैं, विशेष्य-पद नहीं। जहाँ विशेष्य और विशेषण दोनों ही अर्थ-साम्य रखकर भावान्तर का प्रस्फुटन करते हैं

वहां श्लेष होता है। अप्रस्तुत-प्रशंसा में अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत विषय व्यंग्य या गम्य रूप में व्यक्त होता है। यहां अप्रस्तुत ही गम्य रहता है।

इसका श्लिष्ट रूप यों है :—

जीवन के दानि हौ, सुजान हौ 'सरस' अति,
जगत के जीवन मैं आनँद उमाहे हौ।

यहाँ जीवन आदि पद श्लिष्ट हैं और इस पंक्ति को मेघ तथा किसी राजा पर घटित करते हैं।

"जहँ प्रस्तुत ही मैं मिलै, अकथित भावाभास।
श्लेष-प्रभाव कि और विधि, समासोक्ति-सुविलास॥"

व्याजोक्ति

"बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू। भूप-किशोर देखि किन लेहू।"

इससे यह स्पष्ट है कि पुष्पवाटिका में राम के लिये सीता जी की मोहावस्था के छिपाने के लिये उनकी एक सखीने इस प्रकार कहा है। अतः—

व्याजोक्तिः—वहां होती है जहां किसी प्रगट या खुली हुई बात को छिपाने के लिये किसी बहाने से कोई और बात कही जाती है।

नोटः—ध्यान रहे कि छेकापन्हुति में निषेध के साथ बात छिपाई जाती है किन्तु यहां बिना निषेध के ही ऐसा होता है। सूक्ष्म और

पिहित में क्रिया के द्वारा भाव छिपाया जाता है किन्तु यहां बात से ही काम लिया जाता है।

"गुप्त बात प्रगटत लखे, गोपत तेहि व्याजोक्ति।"

गूढोक्ति

"पुनि आउब इहिं बिरियां काली।"

सुनिये विटप ! प्रभु ! पुहुप तिहारे हम,
राखि हौ हमैं तौ सोभा रावरी बढ़ाइ हैं।"

यहां प्रथम पंक्ति में एक सखी राम-जानकी को सुनाती हुई किसी दूसरे के प्रति कहती हुई एक विशेष बात (कल फिर आने और मिलने) की सूचना देती है, साथ ही जानकी को माता के भय की ओर भी संकेत कराती है, इसी प्रकार द्वितीय पंक्ति में वृक्ष के प्रति कहते हुये किसी को सुनाकर अपने रक्खे जाने तथा हित करने की सूचना देना दिखलाया गया है। अतः—

गूढोक्तिः—वहां कही जाती है जहां किसी व्यक्ति के प्रति कहते हुये किसी इष्ट व्यक्ति (जो वहां उपस्थित होता है) को सुना कर (ताकि वह सुन कर उसका मुख्य आशय समझ ले और तदनुकूल ही कार्य करे) किसी विशेष बात की सूचना दी जाती है।

नोटः—अप्रस्तुत प्रशंसा के समान यहां कार्य-कारण-भाव नहीं होता, यहां बात का प्रभाव सुनने वाले पर पड़ता है, जिससे वह कही जाती है उस पर नहीं। प्रस्तुतांकुर में जिससे बात कही जाती है उसी से तात्पर्य होता है, हां सुनने वाला भी उससे लाभ उठाता है, इसमें तो सूचना का भाव प्रधान रहता है और प्रस्तुतांकुर में उपालम्भ या उलाहने का।

"औरहिं प्रति कहि और की, कहै बात गूढोक्ति।"

विवृतोक्ति

चलहु, लेन आवत सुमन, बनमाली इहिं ओर।
चतुर सखी यौं कहि चली, गहि राधा पट-कोर॥

यहाँ सुमन और बनमाली श्लिष्ट पद हैं, इनमें मन मोहित करने वाले कृष्ण का भाव छिपा था, किन्तु कवि ने इसे द्वितीय सांकेतिक पंक्ति से स्पष्ट कर दिया। अतः—

विवृतोक्तिः—वहां मानी जाती है जहां श्लेष के कारण छिपी हुई बात को कवि स्वयमेव चतुरता से खोल देता है।

नोटः—इसे श्लेष-मूलक कहना चाहिये, विना श्लेष के इसकी सत्ता ही नहीं। विवृत का अर्थ है खोलना, अस्तु जहां उक्ति को खोल दिया जावे वहाँ यह होती है। किसी २ ने इसे गूढोक्ति का और गूढोक्ति को सूक्ष्म का विशेष रूप माना है।

सूक्ष्म

"विनय-प्रेम-वश भई भवानी। खसी माल, मूरति मुसकानी॥"

इससे यह स्पष्ट है कि पार्वती जी ने सीता की विनय से उनके मन का भाव समझ लिया और अपना तात्पर्य मुसकुरा कर प्रगट कर दिया। अस्तुः—

सूक्ष्मः—वहां होता है जहां किसी के सूक्ष्म कृत्य (इशारे आदि) से उसके मानसिक भाव को जान कर किसी इशारे से ही कोई उसका उत्तर देता या समाधान करता है।

नोटः—ध्यान रहे कि इसमें दोनों ही ओर से सूक्ष्म कृत्य (इशारा आदि) होता है, एक तो तात्पर्य-सूचक कथन या क्रिया करे और दूसरा उसके उत्तर में साभिप्राय चेष्टा या क्रिया करे। पिहित में केवल आकार से ही (बिना क्रिया आदि के) किसी के गुप्त रहस्य को जान कर किसी दूसरी क्रिया के द्वारा उस भाव का समझ जाना सूचित किया जाता है। इसे चेष्टा-लक्षित तथा आकार-लक्षित दो रूपों में भी माना गया है।

"सूछम, वृति लखि और की, उतर क्रिया सों देय।"

पिहित

"लखन गये जल लेन पिय, परखहु करि विसराम।
सिय-श्रम लखि तरु-छांह में, कंटक काढे राम॥"

यहां पथ में चलने से सीता जी ने श्रम-शिथिल हो लक्ष्मण को पानी लेने भेजा और राम से उन्हें परखने तथा विश्राम

करने को कहा, इससे राम उनको थका हुआ समझ तरु-छांह में अपने कांटे निकालने लगे। सीता ने अपना भाव (थकना) छिपाया, किन्तु राम ने उसका समझ लेना प्रगट कर दिया। अतः—

"पिहितः—वहां होता है जहां अपने भाव को छिपाने वाले व्यक्ति के प्रति कोई अन्य व्यक्ति ऐसी क्रिया करै जिससे उसके उसे समझ लेने का भाव प्रगट हो।

नोटः—यह प्रथम सूक्ष्म का एक विशेष रूप ही सा है।

"गुप्त भाव को जानिबो, पिहित क्रिया करि देय।"

प्रस्तुतांकुर

"अलि ! कदंब-तरु पाय, सुमन भरो, मकरंद मय।
तजि, करील पै जाय, निरस अपत परसे कहा॥"

इसमें प्रत्यक्ष रूप से तो भौंरे के प्रति कथन है किन्तु सुनाया गया है उसे जिसने एक सुखद सम्पन्न व्यक्ति को छोड़ कर एक हीन-दीन का आश्रय लिया है, इसमें एक प्रकार से उपदेश भी दिया गया है। अतएवः—

प्रस्तुतांकुरः—वहां होता है जहां किसी प्रस्तुत व्यक्ति के प्रति कोई उपदेश या उपालम्भ वाली बात कही जाकर किसी दूसरे व्यक्ति को सुनाई जाती है।

नोटः—यहाँ कहने वाले का तात्पर्य दोनों प्रस्तुतों से रहता है। दोनों उसकी बात से लाभ उठा सकते हैं। यहां कथन प्रत्यक्ष में तो एक

के ही प्रति रहता है, हाँ दूसरा भी उसे सुनाता और अपने लिये उससे उचित भाव निकाल लेता है, अस्तु, प्रस्तुत से यहां एक अंकुर सा प्रस्फुटित होता है, प्रस्तुत बात एक के लिये और उसका अंकुर दूसरे के हेतु होता है। ध्यान रहे कि इसमें उपदेश या उपालम्भ ही प्रधान है। यह गूढोक्ति से मिलता-जुलता है, (देखो गूढोक्ति में भेद)

"उरहन, सिच्छा और प्रति, औरहिं कहिय सुनाय।
प्रस्तुत-अंकुर तहं कहैं, सरस सुकवि दरसाय॥"

युक्ति

"खंजन मंजु तिरीछे नैननि, निज पति कह्यो तिन्हैं सिय सैननि।"

सीता जी ने यहां नेत्रों की विशेष क्रिया के द्वारा चतुरता से राम का स्वपति होना प्रगट किया है। अतः—

युक्ति—वहां होती है जहां कोई बात किसी विशेष आंगिक क्रिया के द्वारा चतुरता से प्रगट की या छिपाई जाती है।

नोटः—कहीं २ इसको श्लिष्ट भी कर देते हैं।

"युक्ति, प्रगटिये, गोपिये, कछु करि क्रिया विशेष।"

लोकोक्ति

"सांची भई कहनावति लोक की, ऊँची दुकान की फीकी मिठाई।"

यहां द्वितीय पद में एक कहावत का चमत्कार के साथ प्रयोग किया गया है। अतः—

लोकोक्ति—वहां होती है जहां लोक-प्रचलित कहावत का चमत्कार के साथ प्रयोग हो।

नोटः—इसमें चमत्कार ही आवश्यक है :—

"जहां कहावत लोक की, तहँ लोकोकति वेष॥"

अभ्यास।

(१) क्या बिनोक्ति में "बिना" का रहना अनिवार्य है, यदि है तो क्यों यदि नहीं तो सोदाहरण स्पष्ट करो।

(२) श्लेष और समासोक्ति में क्या अन्तर है, सोदाहरण लिखो।

(३) छेकापन्हुति, पिहित और सूक्ष्म की परिभाषायें देते हुये व्याजोक्ति से इनकी तुलना करो और सोदाहरण समझाओ।

(४) प्रस्तुतांकुर से गूढोक्ति क्यों प्रथक है, और अप्रस्तुत प्रशंसा की अपेक्षा यह कौन सी विशेषता रखता है।

(५) विवृतोक्ति की व्याख्या करते हुये उसकी सतर्क आलोचना करो।

(६) बताओ कौन अलंकार कहां और क्यों है :—

सीतहिं सभय देखि रघुराई। कहा लषन सन सैन बुझाई॥
जोरि पानि प्रभु कीन प्रनामू। पिता समेत लीन्ह निज नामू॥
"रे हरिना अब भाग द्रुत, बारी कर न विहार।
यह बारी को देखियत, आवत राखनहारा॥"
बिन घन निर्मल सोह अकासा। जिमि हरि-जन परिहरि सब आसा॥
विद्या बिन सोहत नहीं, कुल-योवन-धन-रूप॥
भो विधना प्रतिकूल जबै, तब ऊंट चढ़े पर कुकुर काटत।

———

छेकोक्ति

"खग जानै खग ही की भाषा। ताते उमा गुप्त मैं राखा ॥"

यहां बात के गुप्त रखने के अभिप्राय को लेते हुये अर्थान्तर-गर्भित लोकोक्ति का उपयोग किया गया है। अस्तु :—

"छेकोक्ति—वहां होती है जहां उपमान-वाक्य के समान किसी अभिप्राय-युक्त वाक्य के साथ लोकोक्ति सी दी जावे।

नोटः—यहां अर्थान्तर का साभिप्राय होना आवश्यक होता है, लोकोक्ति तो और रूप में रहती है। यह वक्रोक्ति का एक ऐसा विशेष रूप है जिसमें लोकोक्ति की भी पुट रहती है।

"छेकोकति अभिप्राय-युत, है लोकोक्ति वखान।"

स्वभावोक्ति

"धूसर धूरि-भरे तनु आये। भूपति बिहंसि गोद बैठाये।"

यहां बालकों के स्वाभाविक रूप में धूल भरे शरीर का चित्रण किया गया है। अस्तुः—

स्वभावोक्ति—वहां मानी जाती है जहां किसी वस्तु (वर्ण्य) या विषय के स्वाभाविक रूप, गुण, व्यवहार, स्वभाव आदि का सच्चा कथन हो।

नोटः—कहीं २ संकल्प के साथ स्वाभाविक गुण प्रगट होते हैं, वहां प्रतिज्ञाबद्ध स्वभावोक्ति मानी जाती है। इसे जाति भी कहा

गया हैं। किसी किसी ने इसे अलंकार ही नहीं माना, और किसी ने इसे ही एक मुख्य अलंकार-तत्व कहा है।

"स्वाभाविक बरनन "सरस", स्वभावोक्ति तहँ जान।"

अत्युक्ति

"जाचक तेरे दान ते, भये कल्प तरु भूप !।"

किसी दान-वीर राजा के दान की प्रशंसा करते हुये यहां उसके याचकों को कल्पतरु बना दिया गया है अर्थात् वे सर्वार्थ पूर्ण तथा औरों को देने योग्य हो गये हैं। यह बात बहुत बढ़ गई है। कुछ पुट इसमें मिथ्या की भी आ गई है। अतः—

अत्युक्ति—वहां होती है जहां योग्य व्यक्ति (वस्तु) आदि के शौर्य, दानादिक उत्तम गुणों का (मिथ्या का भाव रख कर) अतिशय कथन हो।

नोटः—साधारणतया निंद्य गुणों या दुर्गुणों के कथन में भी अत्युक्ति हो सकती तथा होती है, किन्तु उसकी शोभा शौर्यादि शुभ गुणों के ही कथन में होती है। इसको किसी किसी ने अलंकारों का मूल तत्व भी माना है। वस्तुतः प्रायः सभी अलंकारों के आधार में इसकी कुछ पुट अवश्य रहती है।

"जहँ अतिसय दानादि कौ, कथन तहाँ अत्युक्ति।"

उदात्त

"जो सम्पदा नीच-गृह सोहा। तेहि विलोकि सुरनायक मोहा॥

यहां नगर की समृद्धि तथा नीच-गृह की सम्पत्ति का अतिशय कथन है। अतः—

उदात्तः—वहां माना जाता है जहां किसी की समृद्धि का अतिशय महत्व के साथ कथन हो अथवा महा पुरुषों के संसर्ग से प्राप्त हुये किसी के महत्व का वर्णन हो।

"तहं उदात्त है "सरस कवि", जहं समृद्धि-अत्युक्ति।"

नोटः—यह अत्युक्ति का ही एक रूप (संकीर्ण) है।

अभ्यास

(१) अत्युक्ति और उदात्त में क्या भेद है—सोदाहरण समझाओ।

(२) लोकोक्ति और छेकोक्ति की तुलना करो और अपना मत लिखो।

(३) स्वभावोक्ति में अलंकारिता सिद्ध करते हुये उदाहरणों से अपना मत पुष्ट करो।

निरुक्ति

"साँचो है हरि नाम, जब सब के हरि लेत हिय।"

इससे स्पष्ट है कि यहां किसी विशेष प्रकार की चमत्कृत उक्ति नहीं, वरन् हरि शब्द का अर्थ ही खोल कर घटित किया गया है। हां कुछ विशेष कारण से अर्थान्तर की पुट लगा दी गई है और एक विशेष भाव की पुष्टि भी की गई है। अतः—

निरुक्ति (निर् = नहीं + उक्ति = कथन) वहां होती है जहां किसी संज्ञा शब्द का किसी विशेष अभिप्राय से चमत्कृत अर्थान्तर की पुट के साथ एक भाव-पोषक अर्थ की कल्पना की जावे।

नोटः—इसमें शब्द की अनेकार्थक शक्ति की सहायता ली जाती है, और कभी २ पद-भंग श्लेष और यमक की भी पुट लगा दी जाती है।

"तहँ निरुक्ति, जहँ नाम कौ, भावोचित हो अर्थ।"

प्रतिषेधोक्ति

सिय-कंकन कौ छोरिबो, धनुष तोरिबो नांहि"
यह वह सिंधु नाहिं सोखि जो अगस्त लियो,
ऊधौ ! यह गोपिन के प्रेम कौ प्रवाह है।"

यहां धनुष तोड़ने की प्रसिद्ध बात का निषेध सिय-कंकन को खोलने के लिये भावानुकीर्तन में अर्थान्तर-पुट के साथ किया गया है। अतः—

प्रतिषेधोक्तिः—जहां होती है जहां किसी विशेष भाव के लिये किसी ऐसी प्रसिद्ध बात का निषेध किया जाय जिसमें भावानुकीर्तन सा हो।

नोटः—इसमें शुद्धापन्हुति के समान सत्य वस्तु को छिपा कर तत्सदृश किसी अन्य वस्तु की कल्पना नहीं होती और पर्यस्तापन्हुति के समान एक वस्तु के गुण का आरोपण भी दूसरी पर नहीं होता, वरन्

प्रसिद्ध अप्रस्तुत बात का निषेध होता है और वह किसी विशेष प्रस्तुत भाव के लिये ही।

"करि निषेध सुप्रसिद्ध कौ, ता सम कह प्रतिषेध।"

परिकर

"जानौ न नैकु व्यथा पर की, बलिहारी तऊ हौ सुजान कहावत।'

यहां अपनी व्यथा को कृष्ण पर स्पष्ट करने के अभिप्राय से "सुजान" विशेषण का प्रयोग किया गया है। अतः—

परिकरः—वहां माना जाता है जहां किसी विशेष अभिप्राय के साथ विशेष्यों की विशेषता के लिये ही विशेषणों का प्रयोग करते हुये उन्हें क्रिया के साथ मिलाया जावे।

नोटः—ध्यान रहे कि काव्य में बिना किसी अभिप्राय के शब्दों का रखना "अपुष्टार्थ दोष" है किन्तु यहां साधारण अभिप्राय न होकर विशेष अभिप्राय ही प्रधान रहता है और उसी के लिये चमत्कृत विशेषणों का प्रयोग किया जाता है। कभी कभी यह व्यंग्य एवं सूक्ष्म के रूप में भी रहता है।

"साभिप्राय विशेषणहिं, परिकर धरत बनाय।"

परिकरांकुर

सुनहु विनय मम विटप अशोका। सत्य नाम करु, हरु मम शोका।"

यहां अशोक का अर्थ (अ=नहीं+शोक=दुःख, अर्थात् शोक-रहित) इस अभिप्राय से शोक-रहित किया गया कि वह शोक को दूर कर दे। अतः—

परिकरांकुरः—जहां किसी विशेष्य या संज्ञा-शब्द का किसी विशेष अभिप्राय से अर्थ करते हुये प्रयोग किया जाता है वहां परिकरांकुर माना जाता है।

नोटः—यह एक प्रकार से परिकर का विलोम रूप ही है, उसमें साभिप्राय विशेषण पर ध्यान रहता है और इसमें साभिप्राय विशेष्य पर।

"साभिप्राय विशेष्य त्यौं, परिकर अंकुर पाय।"

पर्यायोक्ति

"तासु दूत हौं, जाहि की हरि आनेहु प्रिय नारि।"

"देखन मिस मृग, बिहँग, तरु, फिरै बहोरि बहोरि।
निरखि २ रघुबीर-छबि, बाढ़ी प्रीति न थोरि॥"

प्रथम पंक्ति में सीधे २ राम-दूत न कह कर घुमा फिरा कर यही बात कही गई है तथा दूसरी पंक्ति में मृगादि के देखने का बहाना करके राम का दर्शन-सुख, जो अभीष्ट कार्य है, प्राप्त किया गया है। अस्तुः—

पर्यायोक्ति—वहां होती है जहां किसी अभीष्ट एवं कथनीय बात को सीधे सीधे न कह कर कुछ चमत्कृत वैचित्र्य के साथ घुमा-फिरा कर कहा जावे, या उसका प्रतिपादन किया जावे, हां भाव वही रहे। तथा जहां किसी बहाने या व्याज से किसी अभीष्ट कार्य का साधन किया जावे।

नोटः—इस प्रकार इसके दो रूप होते हैं:—द्वितीय में मिस, व्याज आदि पद वाचक से रहते हैं, किन्तु इनका रहना अनिवार्य नहीं। ध्यान रहे कि कैतवापन्हुति में मिस या व्याज से कोई बात छिपाई जाती है और दूसरी प्रगट की जाती है यहां इष्टार्थ या कार्य साधन के लिये कोई युक्ति पूर्ण बात कही जाती या क्रिया की जाती है।

'युक्ति मयी कहिये कछू, मिस कर साधिय काज।
पर्यायोक्ति बताइये, तहां "सरस" कविराज॥"

तद्गुण

"स्वाति-अमृत अहि-मुख परे, बनि बिष होत उदोत।"

स्वाती नक्षत्र का सुधा सा जल सर्प-मुख में पड़ कर अपने गुण को छोड़ उसके विष का गुण ग्रहण करता हुआ कहा गया है। अस्तु—

तद्गुण (तत्=उसका+गुण–दूसरे का गुण ग्रहण करना) वहां कहा जाता है जहां कोई वस्तु अपने गुण को छोड़

कर किसी दूसरी वस्तु के गुण को ग्रहण करती हुई दिखलाई जाती है।

नोटः—ध्यान रहे कि इसमें समीपवर्ती उत्कृष्ट गुण वाली वस्तु ही का गुण लिया जाता है, तथा गुण से यहां तात्पर्य, रूप, रंग, स्वाभावादि से है। उल्लास में गुण मूलार्थ में आता है। प्रायः यहां गुण रंग ही को सूचित करता है।

'तजि निज, पर-गुण लेत जहं, तद्गुण तहां बखान ॥''

अतद्गुण

''राखिय मेलि कपूर मैं, हींग न होति सुगंध।''

यहाँ हींग कपूर के साथ रह कर अपना गुण नहीं त्यागती और उसका गुण नहीं लेती। अतः—

अतद्गुण—वहां कहा जाता है जहां कोई वस्तु अपने समीपवर्ती वस्तु के रूप, रंग आदि गुणों को नहीं ग्रहण करती।

''तद्गुण को विपरीत जो, ताहि अतद्गुण जान।''

नोटः—यह तद्गुण का विलोम रूप है। इसमें प्रस्तुत वस्तु न्यून गुण वाली तथा गुण-ग्रहण-क्षमता युक्त होकर भी अपने समीपवर्ती वस्तु का गुण नहीं लेती।

पूर्वरूप

"केस-मुकुत सखि! मरकत, मनि मय होत,।
हाथ लेत पुनि मुकता, करत उदोत॥"

अथयेहूँ ससि, हँसनि की छाई छटा अनूप॥२॥

प्रथम-पंक्ति में मोती काले बालों के साथ नीलम सा लगता है; किन्तु वही हाथ में आकर फिर स्वच्छ मोती दीखता है। अर्थात् प्रथम वह बालों का श्याम-गुण ग्रहण करके फिर अपने पूर्व रूप में आ जाता है। दूसरी पंक्ति में हास्य की उज्ज्वलता चाँदनी से मिल कर प्रथम बढ़ जाती है किन्तु उसके (चाँदनी के) न रहने पर वह ज्यों की त्योँही (वैसी ही) बनी रहती है। अस्तुः—

पूर्वरूपः—किसी वस्तु को, अन्य वस्तु-सम्पर्क से लिए हुए गुण को त्याग कर फिर अपने ही पूर्व वाले रूप में प्रगट होती तथा उस वस्तु के नष्ट होने पर भी, जिससे उसने गुण ग्रहण किया था, ज्यों की त्यों ही रहती हुई दिखलाता है।

नोटः—इस प्रकार इसके दो रूप होते हैंः—(१) गुण-ग्रहण करके फिर अपने ही रूप में आना और (२) ग्राह्य-गुण वाली वस्तु के नष्ट होने पर भी ज्यों का त्यों रहना।

लै गुण, तजि तेहि प्रगट जहँ, वस्तु प्रथम निज रूप।
वस्तु गए त्यों ही रहे, पूरब रूप अनूप॥

अनुगुण

"मुक्त-माल हिय, हास ते अधिक सेत ह्वै जात।"

हँसी की उज्ज्वता से उज्ज्वल-मोती यहाँ और भी उज्ज्वल होते हुए कहे गए हैं और इस प्रकार उन्होंने हास्य के गुण का अनुकरण किया है। अस्तुः—

अनुगुणः—किसी वस्तु के स्वाभाविक-गुणों का, किसी निकटवर्ती वस्तु के सम्पर्क से अधिक उत्कृष्ट होना प्रगट करता है। गुणों से तात्पर्य यहाँ सभी प्रकार के गुणों (सद्गुणों या दुर्गुणों) से है।

"अनुगुण, काहू को बढ़े, गुन, पर को गुन पाय।"

मीलित

अरुन-अधर पै पीक की, लीक न कछू लखाय।

अधर और पान की लालिमा यहाँ सब प्रकार मिल कर एक रूप होती हुई कही गई हैं। अतएवः—

मीलितः—जहाँ समान गुण रखने वाली दो वस्तुएँ परस्पर ऐसा मिल जाती हुई कही जाँय कि दोनों में भेद न जान पड़े और एक वस्तु दूसरे में छिप जाय।

नोटः—तद्गुण में कोई वस्तु किसी उत्कृष्ट गुण वाली वस्तु के गुण को ग्रहण करती है, उसमें मिल कर छिपती नहीं, जैसा यहाँ होता है और न अनुगुण के समान गुणोत्कर्ष भी इसमें दिखलाया जाता है।

"सदृश-वस्तु मिलि एक हों, मीलित "सरस" कहाय।"

उन्मीलित

"जान्यो परत सुगन्ध ते, तन केसर को लेप।"

शरीर के कनक-वर्ण में केसर का पीत-पंक ऐसा मिल गया है कि बस सुगन्ध से ही पहिचाना जाता है। इसलिए:—

उन्मीलित:—जहाँ दो सदृश वस्तुएँ अभेद-रूप से एक दूसरे में छिप जाँय और कोई वस्तु अपने किसी विशेष गुण से ही पहिचानी जाय।

नोट:—उक्त मीलित का यह विरोधी है और किसी विशेष गुण से अभेद प्रगट करता है।

"कछु विशेषता सों प्रथक, वस्तु समान लखाय।
मीलित - प्रतिद्वन्दी तहाँ, उन्मीलित दरसाय॥"

सामान्य

भरत-राम एकै अनुहारी। सहसा लखि न सकैं नर-नारी॥

यहाँ भरत और राम में, रूप, रङ्ग आदि का ऐसा सादृश्य है कि भेद नहीं ज्ञात होता। अतः—

सामान्य:—दो वस्तुओं में रूप, रङ्गादि के सादृश्य से भेद का अलक्षित रहना प्रगट करता है। अथवा गुण-साम्य से प्रस्तुत और अप्रस्तुत में अभेद और एकरूपता प्रगट करता है।

नोटः—ध्यान रहे कि यहाँ न तो तद्गुण के गुण-ग्रहण का और न मीलित के परस्पर मिल कर एक होने का भाव प्रधान है, वरन् रूपादि के सादृश्य से अभेद का प्रगट होना ही प्रधान है।

"तहँ सामान्य अभेद जहँ सदृश-पदार्थ माँहि।"

विशेषक

मन-मोहन अरु मदन को, सकत न कोउ पहिचान।
जो हरि के कर में कहूँ, होती कुसुम - कमान॥

यहाँ कृष्ण और मदन में पूर्ण सादृश्य दिखलाते हुए एक विशेष गुण के कारण भेद होता हुआ दिखलाया गया है। अतः—

विशेषकः—दो सदृश-वस्तुओं में किसी विशेष कारण या गुण से भेद की प्रतीति को सूचित करता है।

नोटः—देखो इसी के साथ उक्त सामान्य तथा उन्मीलित को भी। इसके साथ उन्मीलित को रख कर अर्थात् सदृश वस्तुओं में कुछ अपनी २ विशेषता दिखला कर विशेषकोन्मीलित नामक एक मिश्रालंकार और माना गया है।

"लै विशेष गुन प्रथक हों, वस्तु विशेषक माँहि॥"

सम्भावना

"जो तुम अवत्यौ मुनि की नाईं।
पद-रज सिर सिसु धरत गोसांईं॥

लक्ष्मण आपके (परशुराम के) चरणों की धूल सिर पर रखते यदि आप मुनि के रूप में आते, अर्थात् प्रथम बात तभी सम्भव है जब दूसरी बात हो। अस्तुः–

'सम्भावनाः—वहां कही जाती है जहां किसी शर्त के साथ किसी बात का होना सम्भव कहा जाये और कथन में चमत्कार हो।

नोटः—चमत्कार के बिना जहां कार्य स्वभाव सम्भव या साधारण रूप से सम्भव कहा जाता है वहां सम्भव प्रमाण माना जाता है जिसमें यहां के समान कार्य का होना निश्चित नहीं होता। यहां जो शर्त प्रधान है, उसके पूरा होने पर कार्य का होना निश्चित रहता है।

"यह होये, यह होइहै, सम्भावन यौं होय।"

असम्भव

"जानी नहीं, अनुमानी नहीं रही,
कूबरी पै हरि रिझिहैं ऐसे।"

कुब्जा पर कृष्ण के प्रसन्न होने का अनुमान भी न किया गया था किन्तु वे प्रसन्न हो ही गये, अचिन्त्य घटना भी घटित हो गई। अतः–

असम्भव:—वह है जो किसी कार्य की असम्भवता प्रगट करके उसका अकस्मात हो जाना प्रगट करे, या किसी बात को असम्भव बतावे ।

नोटः—इसके वाचक पद हैं—"कौन जानता था, या इसी प्रकार के अन्य शब्द या पद ।

"असम्भाव्यता प्रगट कर, "सरस" असम्भव सोय ।"

विशेषोक्ति

" लाग न उर उपदेस, जदपि कह्यौ सिव बार बहु । "

यहां यद्यपि कारण उपस्थित है तौ भी कार्य का न होना कहा गया है । कारण साधारण भी नहीं वरन् पर्याप्त एवं प्रौढ़ है । अतः—

" विशेषोक्ति—पूर्ण और प्रबल कारण के रहने पर भी कार्य का न होना दिखलाती है ।

नोट :—जहां कारण की अनुपस्थिति में भी कार्य हो जाये वहां प्रथम विभावना जानना चाहिए। इसके ३ भेद हैं :—१. उक्त निमित्ता—जहां कार्य के न होने का हेतु हो २. अनुक्त निमित्ता—जहां कार्य के न होने का हेतु न हो ३. अचिंता निमित्ता—जहां हेतु अचिंत्य हो । इसके वाचक शब्द प्रायः होते हैं :—तऊ, तौभी, तदपि, आदि ।

" विशेषोक्ति कारन रहै, तऊ न कारज होय । "

विभावना

" बिन घनश्याम धाम धाम ब्रज मंडल मैं
ऊधौ नित बसत बहार बरसा की है । १ "

यद्यपि यहां घनश्याम (बादल, कृष्ण) नहीं तौ भी बरसात है अर्थात् कारण के बिना ही कार्य हो रहा है । इसी प्रकार :—

" महामत्त गजराज कहँ, बस कर अंकुस खर्व । २ "

एक छोटे से अंकुस से (अपूर्ण या न्यून कारण से) मस्त हाथी वश में हो रहा है (कार्य होता है)—तथा

" रखवारे हति बिपिन उजारा,
देखत तोहिं अछय जेहि मारा । ३ "

रक्षकों के रहते हुए भी उन्हें मार कर विपिन उजाड़ा गया और तुम्हारे होते हुए भी अक्षय कुमार मारा गया अर्थात् प्रतिवंधक के होने पर भी कार्य हो गया । ऐसे ही

" हिम कर अब तो है, ताप संताप देता । ४, ५

हिमकर (जो ताप का कारण नहीं है) ताप देता है, अथवा कार्य अपने असली कारण से न प्रगट हो कर किसी अन्य कारण से प्रगट होता है । कभी कभी यह अन्य कारण कार्य का विरोधी भी होता है, जैसा यहां है भी । यह भी होता है :-

"लोचन मीनन से उपजी सजनी ! सरिता यों सनेहमयी । ५

लोचन मीनों से (जो जल से उत्पन्न होती हैं) सरिता (सनेह की) निकल रही है—अर्थात् कार्य से कारण की उत्पत्ति हो रही है । अस्तु :—

विभावना—किसी कार्य (बात) के कारण के सम्बन्ध में चमत्कृत एवं विचित्र कल्पना का कौतुक प्रगट करती है। इसके मुख्य ६ रूप हैं :—

(१) कारण के बिना ही कार्य का हो जाना। उदा० १

(२) अपूर्ण कारण से पूर्ण कार्य का होना। उदा० २

(३) प्रतिबंध के होते हुए भी कार्य का हो जाना। उदा० ३

(४) किसी भिन्न कारण से भिन्न कार्य का होना। उदा० ४

(५) विरोधी हेतु से कार्य का होना। उदा० ४

(६) कार्य से ही कारण का प्रगट होना। उदा० ५

नोट :—यह कार्य-कारण-सम्बन्ध पर आधारित है, किन्तु इसमें चमत्कृत वैचित्र्य का होना अनिवार्य है, वैज्ञानिक कार्य-कारण-सम्बन्ध में अलङ्कार नहीं। कभी २ इसमें विरोध भी झलकता है।

" हेतु काज वैचित्र्य सों, प्रगट, विभावन सोय। "

असंगति

"सीतहिं लै दसकंध गयो पै,
गयो है विचारो समुंदर बांध्यो।" १

यहां रावण का सीता को ले जाना कारण है और समुद्र का बांधा जाना कार्य है, दोनों में एक प्रकार का विरोध सा है, वास्तव में रावण पर ही कार्य या फल पड़ना चाहिये था—अस्तु यहां कारण तो कहीं है और कार्य कहीं हो रहा है। इसी

प्रकार कारण किसी में और किसी में कार्य तथा कारण किसी समय में और कार्य किसी में विरोध-भाव के साथ दिखलाया जाता है।

इसी प्रकार—"चातक के मुख गेरन जोग,
कहा रस ऊसर में घन ! गेरौ ॥"

यहां पानी बरसाने का कार्य चातकावलि के मुखों में होना योग्य था: किन्तु यह न हो कर हुआ वह ऊसर-क्षेत्र में, जहां उस कार्य का होना व्यर्थ या अयोग्य सा है। योंही

"राज देन कहँ सुभ दिन साधा, कह्यो जान बन केहिं अपराधा।"

अथवा—" राज देन कहि दीन्ह बन...... ।

इसमें राज्य देने की इच्छा थी किन्तु उसके विपरीत वन दिया गया अर्थात् इष्ट कार्य के स्थान पर विपरीत कार्य किया गया। अतः—

असंगति—कार्य-कारण के सम्बन्ध में विरोध का आभास इस प्रकार प्रगट करती है कि १—कार्य और कारण के सम्बन्ध में देश (स्थान) और कालादि-मूलक विरोध प्रगट हो। कार्य कहीं और कभी हो और कारण कहीं और कभी हो। २—किसी अन्य स्थान में किये जाने के योग्य कार्य किसी अन्य स्थान में किया जाता है। ३—इष्ट कार्य न करके उसके स्थान पर कोई विपरीत कार्य किया जाय।

नोट :—यह अलङ्कार कार्य-कारण-सिद्धान्त और विरोधाभास पर आधारित है, विरोध की पुट इसमें चातुर्य-चमत्कार के ही साथ

दी जाती है। ध्यान रहे कि अत्यंतातिशयोक्ति में कारण के प्रथम ही कार्य हो जाता है यहां ऐसा नहीं होता, उनके पौर्वापर्य सम्बन्ध में विरोध नहीं रहता, हां स्थान-भेद एवं समय-व्यवधान का विरोधाभास अवश्य रहता है। ध्यान रहे कि यहां एकाधिकरणत्व पूर्ण (एक ही स्थान में होने वाले) कार्य-कारण को रखना आवश्यक है। कभी २ एक ही स्थान में होने वाली उन दो बातों में स्थानान्तर-विरोध भी इसके द्वारा दिखलाया जाता है जिनमें कार्य-कारण-सम्बन्ध नहीं होता।

देश-काल तथा कार्य के भेद से असंगति के तीन मुख्य रूप होते हैं :—

प्रथम-रूप :—जहां कार्य और कारण विरोधाभास मूलक या परस्पर प्रतिकूल से होते हुए भिन्न भिन्न स्थानों में प्रथक प्रथक दिखलाये जाते हैं। यथा :—

"राम चले इत अवध ते, असगुन लङ्का होंहि।"

यहाँ राम का चलना एक स्थान में और असगुनों का होना दूसरे स्थान में दिखाया गया है।

द्वितीय-रूप :—जहां कार्य अपने यथोचित स्थान में न किया जा कर किसी दूसरे स्थान में किया गया हो। यथा :—

"चातक के मुख गेरन जोग कहा रस ऊसर में घन! गेरौ।"

यहां पानी बरसाने का कार्य का चातक के मुख में किया जाना उचित है, किन्तु वह ऊसर में किया गया है।

तृतीय-रूप:—जहाँ इष्ट कार्य के विरुद्ध अन्य कार्य किया जाय। यथा:—

भलेहु कहत दुख रौरेहु लागा।

राज देन कहि दीन्ह बन.........

लिखत सुधाकर लिखि गा राहू।

नोटः—इन सबको श्लिष्ट-अन्योक्ति मूलक तथा लोकोक्ति आदिक अन्य अलङ्कारों से पुष्ट करके चमत्कृत भी किया जा सकता है।

देस काल के भेद सौं, कारन काज-विरोध।
काज विरोधी करिय कहुँ, तीन असंगति सोध।

समाधि

हरि प्रेरित तेहि अवसर, चले पवन उनचास।

हनुमान जी निशाचरों के द्वारा लगाई गई अपनी पूँछ की आग से लङ्का-दहन कर रहे थे उसी समय अकस्मात दैव-योग से चारों ओर की प्रचंड वायु चलने लगी जिससे अग्नि ने और भभक कर लङ्का को शीघ्र ही जला दिया और इस प्रकार आकस्मिक कारण के योग से कार्य सुगमता से हो गया। अस्तुः—

समाधि :—जहां किसी आकस्मिक कारणान्तर के योग से कोई इष्ट कार्य सुगमता से हो जाय, वहां समाधि होती है।

नोट :—ध्यान रहे कि जहाँ एक कर्ता के साथ दूसरे कर्ता आ कर गर्व के साथ कार्य सिद्ध करते हैं और न कि आकस्मिक-कारण से कार्य की सिद्धि होवी है वहाँ समुच्चय अलंकार होता है।

तहँ समाधि, जहँ काज कर, सुगम अकस्मिक हेत।

समुच्चय

तात बचन पुनि मातु हित, भाइ भरत अस राउ ।
मो कहँ दरस तुम्हार प्रभु, सब मम पुण्य प्रभाव ॥

यहाँ एक कार्य के एक पूर्ण साधन के होते हुए भी अन्य ऐसे साधनों का कथन किया गया है जो कार्य को सहायता पहुँचाते हैं । अतएव :—

समुच्चय :—जहाँ एक साधन या एक कर्ता के होते हुए भी अन्य साधन अथवा गर्व युक्त अन्य कर्ता, कार्य-सिद्धि में सहायक हों वहाँ समुच्चय माना जाता है ।

नोट :—उत्तम, मध्यम (मिश्रित) और निकृष्ट-साधनों के भेद से इसके तीन रूप हो जाते हैं । उक्त उदाहरण में उत्तम साधनों का योग है ।

द्वितीय-रूप :—अनेक भाव सूचक क्रिया पदों अथवा कई गुण-सूचक पदों का एक ही काल में जहाँ साथ साथ सामञ्जस्य किया जाता है वहाँ द्वितीय-रूप होता है । यथा :—

चकित चितै मुँदरी पहिचानी ।
हरषि विषाद हृदय सकुचानी ॥१
लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े ।
काहु न लखा रहे सब ठाढ़े ॥२

तृतीय-रूप :—जहाँ एक कार्य के अनेक कारणों का कथन हो यथा :—

एक मंद मैं मोह वश, कीश हृदय अज्ञान।
पुनि प्रभु मोंहि बिसारेऊ, दीन बन्धु भगवान ॥३
नोटः—साधक बहु, कै भाव बहु, होय काज तऊ एक।
'सरस' समुच्चय जानिए, कारन जहाँ अनेक ॥

प्रहर्षण

भजन भाव नहिं अरथ न जापू।
निज जन जानि मिले शिव आपू ॥

यहाँ भक्त ने यद्यपि शिव-प्राप्ति का कोई भी प्रयत्न न किया था, हाँ, शिव दर्शन की इच्छा अवश्य रखता था। उसकी यह इच्छा यहाँ विना प्रयत्न के ही पूर्ण हुई दिखलाई गई है। इसी प्रकार :—

इक फल चहि पूजत शिवहिं। तुरत मिले फल चारि ॥

यहाँ अभीष्ट फल से अधिक फल की प्राप्त होती हुई दिखलाई गई है और योंही :—

यहि विधि मन विचार कर राजा।
आइ गये कपि सहित समाजा ॥

यहाँ अभीष्ट कार्य की सिद्धि के विचारते ही (उसके लिए उपाय न भी किये जाने पर) फल की प्राप्ति हो गई है। इसीलिए :—

प्रहर्षन :—(विशेष रूप से सुख या हर्ष की) वहाँ माना जाता है जहाँ १ :—बिना प्रयत्न के २ :—केवल विचार करते

ही अभीष्ट कार्य सिद्ध हो। अथवा ३ :—इष्ट फल से अधिक फल की प्राप्ति हो।

नोट :—कहीं २ अपूर्ण प्रयत्न से ही पूर्ण फल की प्राप्ति होने पर यह अलङ्कार माना गया है और किसी २ ने इसे समाधि का एक भेद कहा है।

सोचत ही कै यत्न बिनु, इष्ट प्राप्ति जहँ होय।
वाचक आपुहि सरिस पद, "सरस" प्रहर्षण सोय॥

अभ्यास

(१) समुच्चय और समाधि में क्या भेद हैं। सोदाहरण लिखो।

(२) कार्य-कारण-सिद्धान्त के रूपान्तरों पर कौन २ अलङ्कार आधारित हैं? स्पष्ट रूप से समझाओ।

(३) बताओ कौन अलङ्कार है :—

रामचन्द्र सोचत रहे, रावण - बधन उपाय।
सूर्पनखा ताही समय, करी ठठोली आय॥
ग्रह-ग्रहीत पुनि बात-बस, तेहि पुनि बीछी मार।
ताहि पियाइहि बारुनी, कहौ कौन उपचार॥
और करै अपराध कोउ, और पाव फल भोग।

पायन की सुधि भूलि गई अकुलाइ महा वर आँखिन दीनो।
राज देन कहँ शुभ दिन साधा, कहेहु जान बन केहि अपराधा॥



"कारण माला"

होत लोभ ते मोह, मोहहि ते उपजे गरब ।
गरब बढ़ावे कोह, कोह कलह ताते व्यथा ॥

यहाँ पहले कही हुई बात पीछे कही हुई बात का कारण बनती है, अथवा एक कारण से उत्पन्न होने वाला कार्य आगे चल कर किसी दूसरे कार्य का कारण बनता है और इस प्रकार कार्य-कारण की एक मालिका सी बन जाती है।

नोट :—ध्यान रहे कि इसमें पूर्व और उत्तर वस्तुओं में उत्पादक और उत्पन्न भाव प्रधान रहता है माला दीपक के सामन भावोत्कर्ष का प्राधान्य नहीं रहता। इसे किसी २ ने गुम्फ भी कहा है। बिना शब्द के प्रयोग से इसे विनोक्ति मूलक भी कह सकते हैं। कहीं २ किसी कार्य का कारण किसी कारण का कार्य हो जाता है और इस प्रकार उक्त रूप का विलोम भी इसका दूसरा रूप माना जाता है।

काज बनै जहँ हेतु कोउ, सोइ पुनि कारन होय ।
कै विलोम याकौ जहाँ, कारण माला सोय ॥

व्याघात

सुजन वचन सों देत सुख, दुरजन पुनि दुख देत ।

यहाँ जिन वचनों से सज्जनों के द्वारा सुख मिलता है, दुर्जनों के द्वारा उन्हीं वचनों से दुख मिलता हुआ दिखलाया

गया है। अर्थात् एक ही उपाय से भिन्न २ व्यक्तियों के द्वारा दो प्रथक २ अन्यथा कार्य किये गये हैं।

इसी प्रकार "मिलत एक दारुन दुख देहीं।
बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं॥"

यहाँ विरुद्ध क्रियाओं के द्वारा एक ही प्रकार का कार्य होता हुआ कहा गया है। सम्मिलन और वियोग दोनों से दुःख-प्राप्ति कही गई है। अस्तु :—

व्याघात :—(धक्का पहुँचाना) वहाँ होता है जहाँ

१—एक ही उपाय या साधन से दो व्यक्ति विरोध मूलक कार्य करें।

२—जहाँ दो विरुद्ध क्रियाओं से एक ही प्रकार का कार्य हो।

इक साधन, द्वै काज अरु, भिन्न क्रिया फल एक।
तहँ व्याघात बताइये, सुकवि 'सरस' सविवेक॥

विषादन

कमल कोष गत अलि चह्यो, कमल-विकास प्रभात।
कह 'रसाल' तहँ आइ गज, कीन्ह्यो कंज-निपात॥

यहाँ प्रभात में कमल के विकसित होने तथा अपने मुक्त होने की बात भौंरे ने सोची किन्तु हाथी के द्वारा कमल के नष्ट हो जाने पर वह सिद्ध न हो सकी। अस्तु :—

विषादनः—वहाँ होता है जहाँ मन-वांच्छित फल के विरुद्ध फल प्राप्त होता है।

नोटः—अभीष्ट फल की केवल इच्छा का ही यहाँ प्राधान्य है। इसके लिए उद्योग करना यहाँ आवश्यक नहीं। विषम अलंकार में प्रयत्न की प्रधानता रहती है। एक प्रकार से यह विषम का ही भेद है।

तहाँ विषदन 'सरस' कह, फल जहँ इष्ट-विरुद्ध।

हेतु

"उयौ अरुन अवलोकहु ताता। पंकज-कोक-लोक-सुखदाता॥"

सूर्य यहाँ उदय हो रहा है और साथ ही कमल को विकास, और कोक एवं लोक को सुख प्राप्त हो रहा है, इस प्रकार कार्य और कारण का एक ही साथ कथन किया गया है। इसी प्रकार :—

"मोहिं परम पद मुक्ति सब तव पद-रज घनश्याम।"

यहाँ कृष्ण-पद-रज से (कारण) प्राप्त होने वाली मुक्ति (कार्य) को उसी के रूप में दिखलाया गया है। अर्थात् कार्य और कारण दोनों में एक रूपता कर दी गई है। अस्तु :—

हेतुः—वह है जिसमें १—अभेद के साथ कार्य और कारण का एक ही स्थान पर एक ही साथ कथन हो या २—दोनों में एकता दिखलाई जाय।

कारन, कारज संग कै, एकै करि जँह थाप ।
द्विविध-हेतु तँह 'सरस' कवि, जान लीजिये आप ॥

विरोधाभास

यह अलङ्कार बड़ा ही विचित्र, रोचक और स्पष्ट होता है। शाब्दिक अर्थ के आधार पर विरोध का जहाँ केवल आभास मात्र रहता है और वास्तव में नहीं, वहाँ यह अलङ्कार माना जाता है। जहाँ वास्तविक-विरोध दिखलाया जाता है वहाँ किसी २ ने विपरीत अलंकार कहा है। (महाकवि 'देव')

नोट :—ध्यान रहे कि इसमें विरोध की सूचना चमत्कृत-चातुर्य्य से दी जाती है। विरोध मुख्यतः चार बातों में दिखलाया जाता है।

१–जातिगत :—यथा

मूक होहिं बाचालु, पंगु चढ़हिं गिरिवर गहन।

इसमें मूक और पंगु का वाचालुता और चलने से जातिगत विरोध है।

२–गुण-गत :—यथा

तृण ते कुलिश, कुलिश तृण करई।

यहाँ तृण और कुलिश में गुण सम्बन्धी विरोध है।

३–क्रिया-गत :—यथा

शीतल - सिख दाहक भई कैसे।

यहाँ शीतल-शिक्षा के दाहक होने में क्रिया-गत विरोध है।

४-द्रव्य-गत :—यथा

कृष्णार्जुन अनुरक्त नित, करन निकट तउ वास।

अर्थात् नेत्र यद्यपि कृष्ण और अर्जुन के रँग में रंगे हैं तौ भी उनका निवास कर्ण (कान) के पास है।

नोट :—ऐसे स्थानों में श्लेष से बड़ी सहायता मिलती है और इससे इसका चमत्कार भी बढ़ जाता है। अब इन चारो रूपों के परस्पर मिलने से और भी कई रूप बनते हैं। ध्यान रहे कि यहाँ विरोध का आभास व्यापक और असत्य रूप में रहता है। विषम के समान सत्य और वास्तविक-विरोध नहीं होता। साथ ही कार्य और कारण से भी सम्बन्ध नहीं होता।

जँह विरोध आभास बस, तहाँ विरोधाभास।

आक्षेप

सानुज पठइय मोहिं बन, कीजिय सबहिं सनाथ।
नतरु फेरियै बन्धु दोउ, नाथ ! चलहुँ मैं साथ ॥१

यहाँ श्री भरतजी प्रथम शत्रुघ्न के साथ अपने को वन भेजने की प्रार्थना श्री रामजी से करते हैं फिर उसी कथन का निषेध करके दोनों भाइयों (लक्ष्मण और शत्रुघ्न) को वापस जाने तथा स्वयमेव श्रीराम के साथ चलने की बात कहते हैं। यह विचार उन्हें प्रथम की अपेक्षा अच्छा जान पड़ता है।

इसी प्रकार—"दशमुख मैं न बसीठी आयो।
अस विचारि रघुनाथ पठायो ॥२

इस कथन में प्रथम अंगद दूत होकर आने से इन्कार करके फिर उसी बात को दूसरे रूप में रखते हैं। यों ही--

"राज देन कहि दीन बन, मोहिं न सोच लवलेस ॥३

यहाँ राज्य देकर बन देने की बात स्थापित की गई है और इसी में निषेध (राज्य न देने) का भाव भी संन्निहित है।

कभी कभी आगे कथनीय बात में किसी कहने योग्य बात के कथन की इच्छा से निषेध का आभास दिया जाता है और कभी समस्त बात का और कभी उसके किसी अंश मात्र का निषेध किया जाता है।

इस प्रकार आक्षेप के मुख्य चार रूप हो जाते हैं :—

१. उक्ताक्षेपः—जहाँ अपनी ही कथित बात का निषेध करके उससे कुछ अधिक जंचती हुई बात कही जाये। यथा उदा० नं० १ में

२. व्यक्ताक्षेपः—जहाँ प्रगट रूप में तो कोई बात स्थापित की जाये किन्तु उसमें निषेध का भी आभास रहे। यथा उदा० नं० २

३. निषेधाक्षेपः—जहाँ किसी बात का निषेध करके फिर उसी बात को दूसरे रूप से स्थापित किया जावे। यथा उदा० नं० ३

४. वक्ष्यमाण निषेधाभासः—जहाँ किसी विशेष बात की इच्छा से दूसरी बात प्रथम बात या उसके अंश के निषेध से कही जाये। यथाः—

"तव मुख विमल प्रसन्न अति, रह्यो कमल सो फूलि।
नहिं नहिं पूरन चन्द सों, कमल कह्यो मैं भूलि" ॥४॥

नोटः—जहाँ इसमें किसी अन्य अलंकार की भी पुट रहती है वहाँ इसे संकीर्ण रूप में मानना चाहिये, यथा उदा० ४ में, जिसमें उपमा और वीप्सा भी है। आक्षेप का अर्थ है बाधा, अस्तु जहाँ क्रिया या कथन में बाधा डालने का तात्पर्य हो वहाँ आक्षेप जानना चाहिये। कहीं २ निषेध करने का हेतु भी कह दिया जाता है वहाँ हेत्वात्मक आक्षेप होगा। कभी २ किसी अभीष्ट बात की इच्छा से किसी अभीष्ट बात में भी सम्मति होती है (केवल आभास रूप में, वास्तव में निषेध ही रहता है) ऐसे स्थानों पर अनुज्ञाक्षेप माना जाता है।

"जँह निषेध निज कथन को, व्यक्ताक्षेप बखान।
छिप्यो निषेधहु बात में, व्यक्ताक्षेपहि मान॥
करि निषेध पुनि कहिय सोइ, है निषेध आक्षेप।
कहै विशेष निषेध लौं, करि तहहूँ आक्षेप॥

उल्लेख

विदुषन प्रभु विराटमय दीसा।
बहु मुख, बहु पद, लोचन, सीसा॥
हरि - भक्तन देखे दोउ भाई।
इष्ट देव इव सब सुख दाई॥

जाकी रही भावना जैसी ।
प्रभु - मूरति देखी तिन तैसी ॥१॥

यहाँ श्रीराम जी को लोगों ने अपनी अपनी रुचि के ही अनुकूल रूप रक्खे हुये देखा है, अर्थात् एक ही पदार्थ भिन्न २ व्यक्तियों को भिन्न २ रूपों में दीखता है, अस्तु :—

उल्लेख:–जहाँ तात्पर्य-भेद से एक ही व्यक्ति या वस्तु का अनेक प्रकार या रूपों से कथन किया जावे। यथा उदा० १ में

द्वितीय :—इसी प्रकार जहां एक ही व्यक्ति भावान्तर से किसी वस्तु को अनेक रूपों में देखे या कहे । यथा :—

" साधुनि कौं सुखदानि हैं, दुर्जन जन दुखदानि ।
वैरिन विक्रम-हानि - प्रद, राम रावरे पानि ॥"

यहाँ रामजी के हाथों को एक ही कवि भावान्तर से कई प्रकार का देखता है ।

नोट :—यह अलंकार मनोविज्ञान के सिद्धन्त पर आधारित और विचार-शक्ति को प्रधानता देता है । विचार-प्रभाव से प्रकृति में रूपान्तर देखना एक बहुत ऊँचा आध्यात्मिक सिद्धान्त है इसी पर यह आधारित है, दूसरा रूप गुण-भेद की सूचना देता है । इनका विस्तृत विवरण "श्रीरसाल" जी कृत "अलंकार पीयूष" में मिलेगा। इसमें अन्य अलङ्कारों की भी पुट दी जा सकती है । उल्लेख का अर्थ है—लिखना या कहना ।

" बहु, बहु विधि एकै लखै, एकहिं बहु विधि एक । "
—" श्रीरसाल '

असम

तो सम नहीं है होनहार, अभिमन्यु धन्य ! कोऊ अन्य आज लौं भयो न होनहार है।

"सुकृती तुम समान जगमाहीं।
भयौ न है, कोउ होनहु नाहीं॥"

यहां अभिमन्यु के समान कोई है ही नहीं, अर्थात् उसकी तुलना के लिये कोई पदार्थ ही नहीं, अतः—

असम—वहां होता है जहां उपमेय का कोई उपमान ही न हो।

नोटः—ध्यान रहे कि अनन्वय में उपमेय ही उपमान कर दिया जाता है और यों उपमान वहाँ आ जाता हैं, यहाँ उपमान होता ही नहीं। इसे किसी २ ने लुप्तोपमा भी कहा है।

सम

"जेइ विरंचि रचि सीय संवारी।
तेइ स्यामल वर रच्यो विचारी॥"

यहां सीता जी के समान राम जी को दिखा कर दोनों के सम्बन्ध को योग्य सूचित किया गया है। दोनों व्यक्ति योग्य, श्रेष्ठ और श्लाघ्य हैं।। इसी प्रकार कहीं २ दो निम्न कोटि की

वस्तुओं का निंदनीय सम्बन्ध (योग्यता या समता के साथ) दिखलाया जाता है। ये दोनों रूप सम्बन्ध सूचक हैं। इनके वाचक पद हैं :—जस, तस, जैसा, तैसा, यथा, तथा, जोग, अजोग आदि अन्य सम्बन्ध-सूचक शब्द।

" नीच ओर जो नित्त ही, पानी जाय सुभाय।
कमला ताकी ह्वै सुता, कसन नीच प्रति जाय॥"

यहां कमला का नीच के प्रति जाने का कार्य उसके कारण (नीच स्थल गामी जल, जो कमला का उत्पन्न करने वाला है) के ही अनुकूल कहा गया है। अर्थात् कार्य अपने कारण के अनुकूल या अनुरूप होता हुआ उससे साम्य भाव रखता हुआ कहा गया है। यह द्वितीय रूप है, इसका सम्बन्ध कार्य-कारण या जन्य-जनक-सम्बन्ध से है। यदि कार्य को कारण के प्रतिकूल, (तृतीय-विषम) न्यून या अधिक दिखलाया जावेगा तो यह अलंकार न होगा वरन् और और अलंकार हो जावेंगे। योंही :—" छुवतहिं टूट पिनाक पुराना। "

यहां कार्य (धनुष का टूटना) आवाध रूप से प्रयत्न के बिना ही हो गया है, यदि कार्य उत्कृष्ट रूप में इष्ट होगा तो प्रहर्षणालंकार हो जायेगा, अस्तु कार्य यहां साधारण ही रखा गया है। अस्तु :—

सम—प्रथम :—जहां योग्य या अयोग्य वस्तुओं का सम्बन्ध साम्य भाव के आधार पर योग्य कहा जावे। योग्या योग्य से इसके दो रूप होते हैं।

द्वितीय :—जहां कार्य और कारण में (जन्य-जनक में) सारूप्य, साम्य एवं अनुकूलत्व हो। तृतीय विषम इसका प्रति द्वंदी है।

तृतीय :—जहां कोई साधारण और इष्ट कार्य विना बाधा के हो जाये, प्रयास भी न हो। इसका विकसित रूप प्रहर्षण है।

नोटः—ध्यान रहे इसके दो रूप तो कार्य-कारण और प्रथम साम्य सम्बन्ध-सूचक हैं।

"होय सद्रश सम्बन्ध कै, कारन-काज समान।
हो बाधा विन काज ये, "सरस" तीन सम जान॥"

अभ्यास

(१) कार्य-कारण सम्बन्ध सूचक अलंकारों को सूक्ष्म रूप से स्पष्ट करो।

(२) अन्तर बताओ:—विषम-विषादन, असम-अनन्वय, सम-विषम।

(३) उदाहरण दो और लक्षण लिखो :—

कारण माला, आक्षेप, उल्लेख, विरोधाभास।

(४) बताओ कौन अलङ्कार है :—

वामुख की मधुराई कहा कहौं, मीठी लगै अखियान लुनाई।
बिनु पग चलै सुनै बिनु काना, कर बिनु कर्म करै विधि नाना॥
कवि न होउँ नहिं चतुर कहाऊँ, मति अनु रूप राम-गुन गाऊँ।
अरुनोदय सकुचे कुमुद उड़गन ज्योति मलीन।
जेतो अवगुन ढूँढिये, गुनै हाथ परि जात॥

विषम

कहँ कुम्भज कहँ सिन्धु अपारा। १।
जेइ बिधि तुमहिं रूप अस दीन्हा॥
तेइ जड़ बर बाउर अस कीन्हा॥ २॥

प्रथम-पंक्ति में मनुष्य का छोटा शरीर धारण करने वाले कुम्भज ऋषि और वृहदाकार समुद्र में बहुत बड़ा अन्तर है। दोनों में परस्पर विरोध सा है, और इसीलिए दोनों सम्बद्ध नहीं हो सकते; किन्तु यहां दोनों को एक साथ उनके सम्बन्ध की अयोग्यता दिखलाते हुए भी अनौचित्य-चमत्कार के साथ घटित सा किया गया है। इसी प्रकार द्वितीय- पंक्ति में भी किया गया है, और अयोग्यता-मूलक-सम्बन्ध "कँह" पद से दिखलाया गया है, इसीलिए:—

विषम:—जहाँ वैधर्म युक्त (भिन्न-धर्म वाले) वस्तुओं का सम्वन्ध अयोग्ता के साथ दिखलाया गया हो अथवा विरोधी बातों का एक साथ वर्णन किया गया हो, वहाँ विषम का प्रथम रूप होता है। इसके वाचक-पद हैं:—यह, कै, वह, कँह यह, कहँ वह। कहीं २ विषम की एक माला भी बना दी जाती है। यथा:—

कहाँ सीप, मुक्ता कहाँ, कहाँ कमल, कँह पङ्क।
कँह कस्तूरी-मृग कहाँ, बिधि-बुधि है सकलङ्क॥

इसी प्रकार जहाँ कारण और कार्य में सारूप्य या साम्य न हो, अथवा फल जहाँ कार्य के विरुद्ध हो अथवा, जहाँ कर्ता को कार्य-फल ही न मिले और मिले तो अनिष्ट के रूप में—वहाँ **द्वितीय-विषम** होता है। जैसे :—

या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिं कोय।
ज्यौं ज्यौं बूड़ै श्याम-रँग, त्यौं त्यौं उज्ज्वल होय॥

यहाँ कार्य (श्याम-रँग में डूबना) तो दूसरा है और फल (उज्ज्वल होना) उसका विलोम है। इसी प्रकार :—

लोने मुख दीठि न लगै, यौं गुनि दीन्ही ईठि।
दूनी ह्वै लागन लगी, दिये दिठौना दीठि॥

जहाँ कारण के गुण, कार्य के गुणों से विरुद्ध होते हैं या अच्छे कारण से बुरा फल उत्पन्न होता है वहाँ **तृतीय-विषम** होता है। यथा :—

भले कहत दुख रौरेहु लागा, फोरहि जोग कपार अभागा।
चले हरावन राम कौ, आपुहिं हारे राम॥

यहाँ प्रथम में तो भली बात को बुरा लगता हुआ दिखला कर कारण और कार्य में गुण विरोध दिखलाया गया है और द्वितीय में राम को पराजित होता हुआ दिखला कर क्रिया-विरोध दिखलाया गया है।

नोट :—कभी २ इसमें दृष्टान्त, उपमा आदि की भी पुट दे दी जाती है। जैसे :—

शीतल सिख दाहक भई कैसे। चकइहिं शरद-चाँदनी जैसे।
वस्तु विरुद्ध मिलाइये, कारन काज बिरुद्ध।
गुन अरु क्रिया-विरोध सों, विषम तीन हैं शुद्ध॥

———

विचित्र

श्याम रंग में रँगहि उर, विमल करन हित बाम।

हृदय को उज्ज्वल करने के लिए गोपिकायेँ उसको श्याम-रंग में रँगती हैं और इस प्रकार विपरीत-प्रयत्न करते हुए अभीष्ट-फल की इच्छा करती या पाती हैं। अस्तु :—

विचित्र :—वहाँ होता है जहाँ अभीष्ट-प्राप्ति के लिए उसके विपरीत प्रयत्न किया जाय, अथवा स्वभावतः उत्पन्न होने वाले फल से विपरीत-फल की इच्छा किसी प्रयत्न से की जाय।

नोट :— ध्यान रहे कि तृतीय-विषम के समान इसके कार्य और कारण में गुण-क्रिया-विरोध नहीं रहता। केवल प्रयत्न से विरुद्ध-फल की इच्छा की जाती है। यहाँ विरोध का आभास अवश्य रहता है। कहीं २ इसकी माला भी देखी जाती है। जैसे :—

जीवन-हित प्रानहिं तजत, नवत उँचाई हेत। आदि

× × × ×

चहि अभीष्ट-फल मित्र, जतन करिय विपरीत जहँ।
जानिय तहाँ विचित्र, अलङ्कार सुन्दर सरस॥

———

अधिक

जाकैं उर मैं बसत जग, सो हरि तव हिय-हार।

यहाँ हृदय, जो आधार है, छोटा है और हरि, जिनमें सम्पूर्ण संसार रहता है, और जो आधेय के रूप में हैं, बहुत बड़े दिखलाये गये हैं। अस्तु :—

अधिक :—का प्रथम-रूप वहाँ होता है जहाँ आधार की अपेक्षा आधेय को बहुत बड़ा और उत्कृष्ट दिखलाया जाय।

नोट :—स्वभावतः आधार को आधेय की अपेक्षा अधिक बड़ा और उत्कृष्ट होना चाहिए, यहाँ इसका विपरीत होता है और इसीलिए कुछ बिरोध का आभास सा रहता है।

तीन लोक, चौदह भुवन, जामैं लघु दरसात।
ता हरि के उर माँहि यह, राधा-छबि न समात॥

यहाँ उक्त उदाहरण के विपरीत आधार की अपेक्षा आधेय उत्कृष्ट और बड़ा दिखलाया गया है। अस्तु यही अधिक का द्वितीय-रूप है। कहना चाहिए कि दोनों रूप एक दूसरे के विलोम हैं।

नोट :—आचार्य्य दण्डी ने इसे अतिशयोक्ति के अन्तर्गत माना है वस्तुतः अतिशयोक्ति का बहुत प्रधान अंश इसमें रहता है।

अधिक तहाँ आधार ते, जहाँ अधिक आधेय।
'सरस' दूसरो रूप तँह, जँह विलोम करि देय॥

अल्प

अब जीवन की हे कपि ! आस न मोंहि ।
कन-गुरिया की मुँदरी ककना होंहि ॥

इसमें कलाई,की जो आधार है, अपेक्षा अनामिका की अँगूठी को, जो बहुत छोटी होती है, बड़ा कहा गया है, और कलाई को छोटा दिखलाया गया है । अस्तु :—

अल्प :—जहाँ किसी बड़े आधार को किसी छोटे आधेय की अपेक्षा अल्प (छोटा) कहा जाय और चातुरी से उसी भाव को चमत्कृत करते हुए प्रतिपादित किया जाय वहाँ अल्प होता है ।

नोट :—अधिक के समान इसमें भी अतिशयोक्ति का प्रधान-तत्व और विरोध का आभास रहता है । कुछ लोगों ने इसके तीन रूप माने हैं :—(१) जहाँ प्रसिद्ध आधार के बिना कोई आधेय स्थित हो । यथा :—

देह नसेहू जासु जस, रह्यो जगत में छाय ।

(२) जहाँ एक ही वस्तु एक ही समय में, (एक ही या भिन्न २ मनुष्यों के द्वारा) देखी या कही जाय । जैसे :—

बन, उपबन, जल, थल, सकल, कीरति कलित तुम्हारि ।

(३) जहाँ किसी कार्य के करने में उसके साथ कोई असाध्य या असम्भव-कार्य भी हो जाय ।

वस्तुतः जहाँ भी मनोरंजक अल्पता का वर्णन हो वहीं अल्प मान लेना चाहिए।

अल्प जहाँ आधेय ते, होय अल्प आधार।

अन्योन्य

रामचन्द्र सौं सजत सिय, सिय सौं इत रघुराय।

यहाँ रामचन्द्र जी और सीता जी दोनों की शोभा एक ही क्रिया से कही गई है। अस्तु :—

अन्योन्य :—जहाँ दो वस्तुओं की शोभा, कारणता और जाति एक ही क्रिया से दिखलाई जाय।

नोट :—कहीं कहीं जैसे को तैसा ही दिखलाने या कहने में भी अन्योन्य मानते हैं, और कहीं इसकी माला भी देखी जाती है।

एक क्रिया सज वस्तु द्वै, अन्योन्यालङ्कार।

विशेष

जियत देह बिनु जगत में, धन्य सुकवि अरु शूर।

यहाँ देह रूपी आधार के विना भी सुकवि और शूर रूपी आधेयों की सत्ता दिखलाई गई है। अस्तु :—

विशेष :—जहाँ चमत्कार के साथ आधेय की सत्ता बिना आधार के दिखलाई जाय।

नोट :—वास्तव में यह अल्प का एक भेद ही है और विरोध-मूलक है। कुछ लोगों ने इसके दो रूप और माने हैं। (१) जहां एक ही काल में एक ही प्रकार, एक ही वस्तु की आवृत्ति कई स्थलों में देखी या कही जाय अथवा तनिक प्रयत्न ही से अलभ्य फल प्राप्त हो। यथा :

कवि वचनन, सुमुखिन-दृगन, जनक-सुता हिय माँहि।
राजत श्री रघुवंश - मनि, तोरत ही धनु काँहि॥
पाय चुके फल चारिहू, करत गंग जल पान।

ध्यान रहे कि पर्य्यायोक्ति में एक वस्तु के अनेक आश्रय यथा क्रम एक दूसरे के पश्चात् होते हैं किन्तु यहाँ ऐसा नहीं होता। जहां एक कार्य करते हुए कोई दूसरा अशक्य कार्य भी कर डाले वहाँ इसका तृतीय-रूप होता है। यथा :—

खोजत सीय को श्री हनुमंत, दुरंत सुलंकहू को दहि आये।

वास्तव में ये सब अल्प के ही भेद हैं।

पर्य्याय

गरल तरल गति साँचही, जानत सकल जहान।
सागर हिय बसि शंभु-गर, बस्यो खल-गिरा आन॥

यहाँ गरल का काल-भेद से क्रमशः एक के बाद दूसरे आधार (सागर, शिव-ग्रीवा और खल-वाणी पर) आश्रित होना कहा गया है। अस्तु :—

पर्य्याय :—जहाँ एक वस्तु समयान्तर के साथ क्रमशः कई स्थानों में दिखलाई जाती है।

नोट :—यहाँ विशेषालङ्कार के समाय एक ही वस्तु एक ही समय में कई स्थानों पर नहीं दिखलाई जाती वरन् क्रमशः समयान्तर से कई स्थानों में दिखलाई जाती है।

इसी प्रकार जहाँ एक ही आश्रय या स्थान में अनेक वस्तुएँ स्थित दिखलाई जाती हैं वहाँ द्वितीय-पर्य्याय होता है। यथा :—

अमी हलाहल मद भरे, श्वेत, श्याम, रतनार।
जियत, मरत, झुकि २ परत, जेहि चितवत एक बार॥

यहां एक ही नेत्रों में अमी आदि कई वस्तुएँ कही गई हैं।

नोट :—द्वितीय-समुच्चय में एक ही समय में बिना क्रम के एक ही स्थान पर कई वस्तुएँ कही जाती हैं, अस्तु इसे हम उसका एक विशेष रूप मान सकते हैं।

भिन्न भिन्न आधार पै, एक वस्तु, पर्य्याय।
'सरस' द्वितीय बताइये, जहँ विलोम दरसाय॥

एकावली

सुमति वहै जो लख सुहित, हित वह जित उपकार।

यहाँ पहिले कही हुई बात फिर बाद को कही हुई बात पर विशेषण के समान स्थापित होती है, अस्तु :—

एकावली:–जहाँ पूर्व कथित वस्तु का स्थापन, उत्तर कथित वस्तु पर विशेषण-भाव से हो और पदों के ग्रहण और त्याग की एक सम्बद्ध शृंखला सी बने।

नोटः—कारणमाला में भी ऐसी ही शृंखला चलती है, किन्तु कार्य और कारण के भाव से। कहीं २ इसका निषेधमूलक रूप भी मिलता है। यथा :—

सो न दया जु न धर्म धरै, वह धर्म नहीं जहँ दान बृथाहीं।
उत्तर-पूरब वस्तु-क्रम, धारि विशेषण-भाव।
चलै शृंखला लै 'सरस', एकावली बताव॥

क्रम या यथासंख्य

रंक, लोह, अहि, कीट यह, परीस न पलटैं रंग।
कहा नृपति, पारस, कहा, कहँ चंदन, कहँ भृंग॥

यहाँ रङ्क, लोहा, सर्प और कीट क्रम से राजा, पारस, चन्दन और भौंरी के साथ सम्बद्ध किये गये हैं। अस्तुः—

क्रम या यथासंख्यः—जहाँ पूर्व कही हुई बातों या वस्तुओं का उत्तर कथित बातों या वस्तुओं से सम्बन्ध निबाहा जाय वहाँ यथासंख्य या क्रम होता है।

नोटः—किसी किसी ने इसके ३ भेद और किये हैं। प्रथम को तो इसी प्रकार रक्खा है, दूसरे में वस्तु, गुण (धर्म) क्रिया आदि में यथाक्रमता दिखलाई हैं और तीसरे में क्रम-भंग को भी इसी का एक भेद माना है।

सचिव, वैद्य, गुरु, तीन जो, प्रिय बोलैं भय-त्रास।
राज, धर्म, तन, तीन कर, होय बेग ही नास॥

यहाँ सचिव, वैद्य और गुरु के साथ राज, धर्म और तन का क्रम ठीक नहीं है। यदि "राज, देह अरु धर्म कर" ऐसा होता तो ठीक होता। इसी के साथ कहीं २ विपरीत-क्रम भी चमत्कार के साथ दिखलाया जाता है।

वस्तु, अर्थ क्रम सों मिलैं, तहाँ यथाक्रम जान।

नोटः—वस्तुतः यह व्याकरण-मूलक अलंकार है और वाक्य-विन्यास एवं पद-विन्यास से सम्बन्ध रखता है।

परिसंख्या

केसन में ही कुटिलता, संचारिन में संक।
मिलै राम के राज में, बस बिधु-बीच कलंक॥

यहाँ कुटिलता, शङ्का और कलङ्क आदि की स्थिति का होना उनके उपयुक्त अन्य सभी स्थानों में निषेध करके केश, संचारी भाव और चंद्रमा जैसे विशेष स्थानों में ही कहा गया है। अस्तुः—

परिसंख्याः—जहाँ किसी वस्तु (धर्म, क्रिया और गुण आदि) का होना, उसके प्रसिद्ध या उपयुक्त स्थानों में निषेध करके किसी एक विशेष स्थान पर दिखलाया जाय।

नोटः—परिसंख्या का अर्थ है वस्तु को उसके स्थान से हटाकर कहीं अन्यत्र रख वहीं उसकी गणना करना। ध्यान रहे कि इस अलङ्कार को श्लेष से बड़ी सहायता मिलती है। एक प्रकार से यह उसी पर आधारित ही है।

कहीं कहीं किसी स्थान पर किसी वस्तु का निषेध करके वहीं तत्सदृश अन्य वस्तु की स्थिति प्रश्न-सहित या प्रश्न-रहित कही जाती है। इस रूप को किसी किसी ने नियमालङ्कार कहा है। कहीं कहीं परिसंख्या का भाव व्यङ्ग भी रहता है।

परिसंख्या जहँ थापिये, वस्तु और ही ठौर।

परिवृत

दीन्ह ज्ञान, हरि लीन्ही माया।
चारि फल देत चारि चाउर चढ़ाये ते॥

यहाँ प्रथम पंक्ति में ज्ञान जैसा सुन्दर पदार्थ देकर माया जैसी निकृष्ट वस्तु ली गई है। फिर द्वितीय-पंक्ति में चार चावलों के बदले में (जो बहुत कम है) अर्थ, धर्म, काम, और मोक्ष जैसे महान पदार्थ दिये गये हैं। अस्तु :—

परिवृतः—वहाँ होता है, जहाँ पदार्थों का विनिमय (बदला) समता, असमता, अच्छाई और बुराई के साथ किया जाता है।

नोटः—यह एक प्रकार का व्यवहारिक लेन-देन-मूलक अलङ्कार हैं। इसके मुख्य दो भेद माने गये हैं, (१) समः—जिसमें (क) उत्तम वस्तु से उत्तम का बदला हो, (ख) निकृष्ट वस्तु का निकृष्ट वस्तु से, और (ग) सामान्य वस्तु का सामान्य वस्तु से बदला हो।

(२) विषमः— (अ) जहाँ उत्तम या योग्य वस्तु देकर निकृष्ट वस्तु ली जाये।

(ब) जहाँ निकृष्ट या अयोग्य वस्तु देकर उत्तम या योग्य वस्तु ली जाय। किसी किसी ने गुण के आधार पर यों विनियम न रखकर परिमाण के आधार पर रक्खा हैं और सम में (क) बहुत देकर बहुत लेना। (ख) बराबर का लेना-देना। (ग) कम देकर कम लेना, एवं धिषम में (अ) बहुत देकर थोड़ा लेना और (ब) थोड़ा देकर बहुत लेना कहा है।

कहीं २ बहुत लेकर कुछ भी न देना भी कहा गया है। यथा:—

तुम कौन सी पाटी पढ़े हौ लला,
मन लेत पै देत छटाँक नहीं॥

इसमें भी विरोध का आभास रहता है।

परिवृत बदला कीजिए, सम कि विषम करि गौर।

विकल्प

जन्म कोटि लगि रगर हमारी।
बरौं शम्भु न तु रहौं कुमारी॥

यहाँ शिव के बरने या कुमारी रहने में से एक ही का होना कहा गया है, क्योंकि दोनों विरोधी बातें हैं और दोनों एक स्थान पर एक ही समय, एक साथ नहीं हो सकतीं। अस्तु:—

विकल्प:—जहाँ दो वस्तुओं का एक साथ, एक ही स्थान पर एक ही समय में होना विरोध के साथ असम्भव दिखलाया जाय और उनमें से एक का ही होना दिखलाते हुए यह कहा जाय कि या तो यह होगा या यह, वहाँ विकल्प होता है।

नोटः—इसमें विरोध का भाव रखना आवश्यक है। कहीं कहीं सादृश्य का भी तत्व रक्खा जाता है। इसके वाचक-पद हैं:—या तो यह या वह, नतु, कै, कितौ, कैतौ इत्यादि।

थपै बिकल्प बिकल्प कै, द्वै बातन महँ एक।

प्रत्यनीक

रावण - दूत हमहिं सुनि काना।
कपिन्ह बाँधि दीन्हे दुख नाना॥१
हरि-जन जानि प्रीति अति बाढ़ी।
सजल - नयन - पुलकावलि गाढ़ी॥२

प्रथम पंक्ति में यहाँ शत्रु-पक्ष के दूतों को शत्रुता के साथ दंड दिया गया है और द्वितीय पंक्ति में मित्र-पक्ष के सेवक पर भी प्रीति दिखलाई गई है। अस्तुः—

प्रत्यनीकः—जहाँ शत्रु के सन्मुख असमर्थ होकर उसके पक्ष वालों का शत्रुता से साथ तिरस्कार किया जाय, अथवा मित्र-पक्षवालों से प्रेम किया जाय वहाँ प्रत्यनीक होता है।

नोटः—यह अलङ्कार अन्योन्य का एक विशेष रूप है क्योंकि अन्योन्य में जैसे को तैसा किया या कहा जाता है यहाँ उसी के आधार पर आचरण करने वाले के पक्षवालों के साथ तदनुकूल आचरण किया जाता है।

प्रत्यनीक का अर्थ है सेनापति या सम्बन्धी के प्रति। इसमें हेतूत्प्रेक्षा का भी अंश रहता है। किसी किसी ने इसे उसका ही एक

भेद माना है। शत्रु या मित्र के प्रति उदासीनता दिखाने में भी यही अलङ्कार माना जाता है।

प्रत्यनीक रिपु, मित्र पै, कीजै यथा विवेक।

मिथ्याध्यवसति

जो आँजै नभ-कुसुम-रस, लखै सो अहि के कान।

यहाँ सर्प के कानों का देखना (जो केवल झूठी-कल्पना है) आकाश-पुष्प के रस से (जो दूसरी झूठी कल्पना है) रंजित आँखों के द्वारा सिद्ध किया गया है। अस्तुः—

मिथ्याध्यवसतिः—जहाँ किसी मिथ्या बात को निश्चय के साथ किसी अन्य कल्पित-मिथ्या बात से प्रतिपादित किया जाय और असत्य की छाया भी न दिखलाई जाय।

नोटः—यह अलंकार कुछ विशेष रोचक नहीं होता। हाँ, इसमें मिथ्या-कल्पना का कुछ कौतुक अवश्य रहता है।

मिथ्याध्यबसति झूठ कहि, झूँठ साँच करि थाप।

ललित

लिखत सुधाकर लिखिगा राहू।१।

पानी पी घर पूँछिबो नाहिन भलो विचार॥२॥

यहाँ राम-राज्याभिषेक में उनके वन-वास रूपी, विघ्न के आने की बात जो प्रस्तुत विषय है नहीं हुई किन्तु एक दूसरी बात में उसका प्रतिबिम्ब दिखलाया गया है। अस्तुः—

ललित:—वह है जहाँ प्रस्तुत विषय का तो नहीं, हाँ उसके प्रतिबिम्ब का ही साँकेतिक-कथन हो।

नोट:—अप्रस्तुत-प्रशंसा के समान इसमें वाच्यार्थ अप्रस्तुत न रह कर प्रस्तुत रहता है और समासोक्ति के समान प्रस्तुत में अप्रस्तुत की प्रतीति न होकर उसका प्रतिबिम्ब ही रहता है। निदर्शना में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का एकता के आरोपण के साथ कथन होता है। यहाँ प्रस्तुत की छाया मात्र रहती है।

छाया प्रस्तुत बात की 'सरस' ललित कह आप।

मुद्रा

सुनि मुरली सुर-धुनि सखी !, गो मति को सुविवेक।
जमुनायक कौ हित भयो, सरसइ हिय धरि टेक॥

यहां साधारण अर्थ के साथ ही सुरधुनि (गंगा जी) गोमती, जमना और सरसइ आदि नदियों के नाम भी आये हैं और इस प्रकार प्रस्तुत अर्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थ सूचक पदों का भी आभास दिया गया है। अतएव :—

मुद्रा—वहां होता है जहां प्रस्तुतार्थ सूचक पदों या शब्दों से किसी सूच्यार्थक भी छाया डाली जावे।

नोट:—मुद्रा का सूच्यार्थ गौण रूप में ही रहता है, प्रधान रहता है वाच्यार्थ ही। इसे व्यंग्यात्मक श्लेष मान कर किसी किसी ने छोड़ भी दिया है।

"जहां शब्द निज अर्थ दै, मुद्रा अर्थहु और।

रत्नावली

रसिक, चतुर-मुख, लक्ष्मिपति, सकल ज्ञान के धाम।

यहां मूल अर्थ है—हे रसिक ! तुम चतुरों में प्रमुख, धनवान और समस्त ज्ञान के घर हो—इसी के साथ इसमें चतुर मुख (ब्रह्मा) लक्ष्मिपति (श्रीपति विष्णु) और सकल ज्ञान के धाम (शिव) के नामों का भी संकेत मिलता है अस्तु—

रत्नावली—वहां होता है जहां मुख्य प्रस्तुत अर्थ के साथ ही अन्य वस्तुओं के नाम भी आ जावें।

नोटः—इसमें चमत्कार का विषय यह है कि मुख्य अर्थ के प्रगट करने के साथ ही कवि ऐसे पदों का प्रयोग करे जो किसी पदार्थों के नाम हों। वस्तुओं के नामों को लेकर कौशल के साथ चमत्कृत चारुता से इसमें अर्थ प्रगट करना आवश्यक है, हाँ ध्यान रहे कि कथित वस्तुओं का स्वाभाविक क्रम भंग न हो। यह कवि-परीक्षा सम्बन्धी अलंकार है।

"नाम कहै, प्रगटै अरथ, रतनावलि तेहि ठौर।"

उल्लास

शठ सुधरहिं सत संगति पाई। पारस परसि कुधातु सुहाई॥

यहां सत् (सज्जन) संगति पाकर दुष्टों का सुधरना दिखलाया गया है, और यों एक के गुण से दूसरे में भी गुण आ गया है। इसी प्रकारः—

"कुटिल कूबरी-संग ते, भये त्रिभंगी लाल।"

इस पंक्ति में कुटिल (टेढ़ी) कूबरी के साथ से कृष्ण भी टेढ़े होते हुये कहे गये हैं अर्थात् एक का दोष दूसरे में भी आता हुआ कहा गया है। अतएव—

उल्लास—वहां होता है जहां सम्पर्क सम्बन्ध होने से एक व्यक्ति या वस्तु के गुण-दोष दूसरे में आ जावें।

नोटः—यह अलंकार संगति-प्रभाव सूचक है। ध्यान रहे कि इस प्रभाव के प्रगट करने में कवि-कल्पना-कृत चातुरी का होना आवश्यक है। इसके गुण-दोष के आधार पर मुख्य ४ रूप हो जाते हैं:—

क—गुण से गुणः—यथा—शठ सुधरहिं सत संगति पाई।
काक होहिं पिक, बकहु मराला॥

ख—दोष से दोषः—यथाः—कुटिल कूबरी संग ते,
भये त्रिभंगीलाल।

ग—गुण से दोषः—यथाः—अर्क जवास पात बिनु भयऊ।
जिमि सुराज्य खल उद्यम गयऊ॥

घ—दोष से गुणः—यथाः—खल परिहास होय हित मोरा।

नोटः—असंगति के समान इसमें कार्य-कारण के सम्बन्ध का प्राधान्य न रह कर स्वभाव का ही प्राधान्य रहता है। कुछ ने इसे विषम के और कुछ ने इसे काव्य-लिङ्ग के अन्तर्गत माना है।

लहै दोष-गुण वस्तु इक, पाइ अपर गुण-दोष।

———

अनुज्ञा

रामहिं चितै सुरेश सुजाना। गौतम-शाप परम सुख माना॥

उस गौतम-शाप को, जिसके कारण इन्द्र के हज़ार आँखें हो गई थीं। रामचन्द्र की शोभा समस्त आँखों से देखते हुये बहुत अच्छा माना और इस प्रकार एक उत्कृष्ट-लाभ के लिये एक दोष को भी उत्तम जाना। अस्तुः—

अनुज्ञाः—जहाँ किसी उत्कृष्ट-गुण की इच्छा से किसी सदोष वस्तु की उसमें या उससे अभीष्ट गुण देख कर इच्छा की जावे और अंगीकृत न करने योग्य वस्तु को भी अंगीकृत किया जाय।

नोटः—किसी २ ने इसे विशेष के अन्तर्गत माना है।

तहाँ अनुज्ञा देखि गुन, चहिये काहू दोष।

अवज्ञा

करि वेदान्त विचारहू, शठहिं विराग न होय।

यहाँ वेदान्त के गुण का कुछ भी प्रभाव दुष्ट पर नहीं पड़ रहा। अर्थात् गुण के सम्पर्क से गुण की उत्पत्ति नहीं होती। इसी प्रकारः—

चन्दन विष व्यापत नहीं, लपटे रहत भुजंग।

यहाँ विषैले भुजंग के सम्पर्क से चन्दन में विष नहीं व्याप्त हो सका। अर्थात् दोष से दोष की भी उत्पत्ति नहीं हुई। यह पहिले का विलोम रूप है। अस्तुः—

अवज्ञाः—जहाँ किसी के गुण-दोष से उसके सम्पर्क में रहने वाले में उन गुण-दोषों का संचार न हो।

नोटः—गुण से गुण और दोष से दोष के न उत्पन्न होने पर इसके दो रूप हो जाते हैं और दोनों एक दूसरे के विलोम होते हैं।

तहाँ अवज्ञा काहु मैं, व्याप न जहँ गुन-दोष।

तिरस्कार

सो सुख, धर्म, कर्म जरि जाऊ। जँह न राम-पद-पंकज भाऊ॥

यहाँ सुख आदिक उत्तम गुण वस्तुओं का, राम-पद-पंकज में प्रेम-विहीनता रूपी दोष को देखते हुये, तिरस्कार करके त्यागना कहा गया है। अस्तुः—

तिरस्कारः—जहाँ किसी गुण वस्तु को उसमें कोई विशेष दोष देखकर उस का निरादर करते हुये त्याग दिया जाय वहाँ तिरस्कार होता है।

नोटः—उक्त अनुज्ञा का यह प्रतिद्वन्दी या विरोधी है। इसमें कभी कभी लोकोक्ति का भी सुन्दर सामञ्जस्य किया जाता है। जैसेः—

वा सोने को जारिये, जाते फाटै कान।

ध्यान रहे कि इसकी गुण-युक्त वस्तु में दोष दिखलाना आवश्यक है।

तिरस्कार गुण युतहु कौ, तजिये जहँ लखि दोष।

लेश

सब ते भले विमूढ़, जिन्हैं न व्यापै जगत गति ।

यहाँ विमूढ़ता को जो एक दोष है गुण सा कहा गया है, इसी प्रकार उसके विलोम रूप में किसी गुण को दोष के रूप में दिखलाया जाता है। जैसेः—

सुक-सारिक पिंजरे परैं, मधुर-मृदुल कहि वैन । अस्तुः—

लेशः—वहाँ होता है जहाँ किसी गुण में दोष की और किसी दोष में गुण की कल्पना की जाती है।

नोटः—इसके उक्त दो रूप परस्पर विलोम हैं।

लेश लखत गुन दोष मैं, दोष कहूँ गुण माँहि ॥

अभ्यास

(१) उदाहरण समेत उन अलंकारों के लक्षण लिखो जो सम्पर्क से गुण-दोष का प्रभाव दिखलाते हैं।

(२) तुलना करोः—

मुद्रा—श्लेष, रत्नावली और मुद्रा । अनुज्ञा—अवज्ञा एवं लेश और तिरस्कार, उल्लास और असंगत ।

(३) बताओ कौन अलंकार है और क्यों ?

पानी पी घर पूछनो नाँहिन भलो विचार ॥१॥

चन्द्र-विम्ब पूरन भये क्रूर केतु हठ दाप ।

बल सों करिहै ग्रास कह, जेहि बुध रच्छत आप ॥२॥

लव निमेष परिमाण जुग. बरस कल्प सरचंड ।
भजसि न मन तेहि राम कँह, काल जासु कोदंड ॥३॥
काक परत नहिं पींजरे, रटत रहैं कटु बैन ॥४॥
मुनि शाप जो दीन्हा, अतिभल कीन्हा, परम अनुग्रह मैं माना।
देख्यों भरिलोचन, भवभयमोचन, यहै लाभ शंकर जाना॥५॥
चेरियै पै जो गुपाल रुचैं, तौ चलौरी सबैं मिलि चेरी कहावैं।६।
विकसत नहीं करील तरु, छावत जदपि बसन्त ॥७॥
लखै उलूक न दिवस मैं, कहा भानु कौ दोष ॥८॥
शठ सुधरहिं सत्संगति पाई ।
पारस परसि कुधातु सुहाई ॥९॥

चित्रोत्तर

इसके दो भेद माने गये हैंः—

(१) जहाँ प्रश्न और उत्तर दोनों के शब्द एक से हों। यथा—

प्रश्नः—तात कहाँ ते पाती आई ।

उत्तरः—तात जनकपुर पाती आई ॥

(२) जहाँ बहुत से प्रश्नों का एक ही उत्तर हो। यथाः—

प्रश्नः—को रन मैं सनमुख लरै, को तम-रिपु भरपूर ।
उदर व्याधि अति कठिन का, सुकवि दीन कह सूर ।

यहाँ तीनों प्रश्नों का उत्तर (सूर) वीर, सूरज, शूल ही है।

ऐसे चमत्कार जहाँ प्रश्नोत्तर में होते हैं वहाँ चित्रोत्तर माना जाता है।

नोटः—यह वार्तालाप मूलक प्रश्नोत्तर सम्बन्धी अलंकार है और केवल वाक्वैचित्र्य की ही विशेषता रखता है। जहाँ उत्तर से प्रश्न का अनुमान हो अथवा जहां बार बार प्रश्न और बार बार उत्तर किये दिये गये हों वहाँ प्रश्नोत्तर अलंकार माना गया है। यदि इसमें व्यंग्य और किसी अन्य अलंकार की पुट दी जाती है तो इसकी रोचकता बढ़ती है, अन्यथा केवल कथन-कौतुक का ही थोड़ा सा कुतूहल रहता है। इसी प्रकार जहाँ किसी गूढ़ अभिप्राय के साथ किसी साधारण प्रश्न का उत्तर चतुरता के साथ दिया जाता है वहाँ गूढ़ोत्तर अलंकार माना जाता है। यथाः—

सुनहु पवन-सुत रहनि हमारी, जिमि दसनन मँह जीभ विचारी।

यहाँ विभीषण ने मारुति के प्रश्न का उत्तर देते हुए लङ्का में अपने दुःख के साथ रहने और उसे त्याग श्रीराम जी के समीप चलने का अभिप्राय मार्मिकता से प्रगट किया है।

हमारी समझ में ये तीनों अलङ्कार एक प्रश्नोत्तर अलङ्कार के ही उपभेद हैं और इनका सम्बन्ध मुख्यतः नाटक सम्बन्धी कथोपकथन से ही है।

स्मरण

इसका लक्षण नाम ही से प्रगट है। अर्थात् जहाँ किसी वस्तु आदि के सकाश से किसी तत्सम्बन्धी या किसी अन्य बात या वस्तु विशेष का ध्यान आ जाय वहाँ स्मरण अलंकार माना जाता है। यथाः—

प्राची दिशि शशि उग्यो सुहावा।
सिय-मुख सरिस देखि सुख पावा॥

यहाँ चंद्रमा को देख कर उससे सदृशता रहने वाले सिय-मुख का ध्यान रामचन्द्र को हो गया है। कहीं २ सुधि आई आदि पद भी दे दिये जाते हैं।

नोटः—स्मृति कभी सादृश्य से, कभी वैषम्य से, कभी वस्तु सम्बन्धी विशेष बात या लक्षण से, स्वप्न से, कथन से या चित्र से उत्पन्न होती है। एक सञ्चारी-भाव का भी नाम स्मृति है, उससे इसकी पुष्टि होती है, और इस स्मरण से चमत्कृत-अर्थ या भाव प्रगट होता है। ❀ देखो अलङ्कार-पीयूष।

जहाँ किसी वस्तु को देख कर उसे कोई ऐसी वस्तु मान ली जाती है जो उसके सदृश होती है वहां भ्रान्ति या भ्रम अलङ्कार माना गया है। इसमें एक वस्तु पर उसके सदृश दूसरी वस्तु का आरोपण करते हुए निश्चयात्मक-ज्ञान रहता है। हाँ, रूपक आदि के समान जान बूझ कर अभेद के साथ यहाँ आरोपण नहीं किया जाता वरन् भ्रम से ही एक वस्तु को दूसरी वस्तु मान लिया जाता है। कहीं २ भरम-भरो आदि पद देकर इसे स्पष्ट रखते हैं और कहीं केवल सूच्य ही। यथाः—

आवत लखि घनश्याम को, नाचि उठे मुदि मोर।

यहाँ श्लेष के साथ २ कृष्ण को बादल समझ कर मोरों के नाचने में भ्रान्ति है। इसी प्रकारः—

भँवर भरत मुख कीभँवरि, भरमि जानि तेहि कंज।

यहाँ स्पष्ट रूप में मुख पर उसे कमल समझ भौंरे के भ्रमण करने में भ्रान्ति दिखलाई गई है।

सन्देह

की तुम हरि-दासन महँ कोऊ॥ की तुम राम दीन अनुरागी॥

यहाँ सन्देह के साथ पूछा जा रहा है कि क्या तुम हरि-दास या रामानुगामी हो आदि। यह संदिग्ध है कि वास्तव में वह क्या है। अस्तुः—

सन्देहः—जहाँ किसी वस्तु को देखकर उसका यथार्थ ज्ञान न हो और उसके विषय में संशय बना रहे, साथ ही उस में उसके सदृश अन्य वस्तुओं की प्रतीति सी होने लगे।

नोटः—भ्रान्ति के समान इसमें एक स्वतु को निश्चय रूप से यहाँ दूसरा नहीं समझ लिया जाता। इसके वाचक पद हैं:—धौं, किधौं, कैधौं, की, कै या अथवा आदि। कहीं ये व्यक्त रहते हैं और कहीं अव्यक्त।

इसके मुख्य दो रूप हैं:—

(१) भेदोक्तिः—जहाँ वस्तुओं में भिन्नता प्रकाशक धर्म का सन्देह के साथ कथन हो। सन्देह के मध्य में कहीं निश्चय ज्ञान रहता है और आदि और अन्त में सन्देह रहता है और कहीं सन्देह के अन्त में निश्चय होता है।

(२) अनुक्त भेदोक्तिः—जिसमें भेद-सूचक-धर्म न कहा जाय।

कै यह, कै वह, वस्तु लखि, कहै सोइ सन्देह।

भाविक

जहाँ भूत और भविष्य—काल में होने वाली क्रियाओं को वर्तमान के समान एक ही साथ दिखलाया जाता है वहाँ भाविक अलंकार होता है। यथाः—

जानति हौं सखि ! आवन चाहत, कुंजन तैं कढ़ि कुंज-विहारी।

यहाँ कुंजों से कृष्ण का निकलना भूतकाल में हो चुका है किन्तु वहीं फिर अब भी वैसा ही प्रतीत होना कहा गया है। इसी प्रकारः—

आजुहिं दीखत होइहै, जो सुख कछु दिन मांहि।

यहां भविष्य में होने वाली वस्तु वर्तमान में ही दिखला दी गई है।

नोट :—इसे Historic Present या ऐतिहासिक-वर्तमान भी कहते हैं और इसका सम्बन्ध विशेषतः नाटक और आख्यायिका आदि कथा-काव्य से है। यह एक व्याकरण का नियम भी है (वर्तमान सामीप्ये वर्तमानवत्वा)

भाविक-भावी भूत, जहँ वर्तमान के गेह।

विधि

सेवक सो जो करै सेवकाई । १ ।
विश्व भरन पोषण कर जोई । ताकहँ भरत नाम अस होई ॥२॥

यहाँ प्रथम पंक्ति में सेवक का पुनर्विधान उसका अर्थ प्रगट करके किया गया है, हां, उसमें विशेष अभिप्राय की भी झलक है । इसी प्रकार भरत का भी, द्वितीय पंक्ति में, फिर से प्रतिपादन किया गया है । अस्तुः—

विधिः—जहाँ किसी सिद्ध विषय या वस्तु का किसी अभिप्राय से पुनर्बिधान या प्रतिपादन किया जाय ।

नोटः—निरुक्ति के समान इसमें मन माने अर्थ की कल्पना नहीं होती वरन् वास्तविक या प्रसिद्ध अर्थ का ही पुनर्कथन होता है ।

विधि तँह जँह फिर से करिय, प्रतिपादित जो सिद्ध ॥

प्रमाण

जहाँ किसी वस्तु को सिद्ध करने के लिए प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों का चमत्कृत—चातुर्य्य के साथ प्रयोग किया जाय ।

नोटः—श्री भोजराज ने शास्त्रीय-प्रमाणों को लेकर काव्य में रख दिया है । प्रमाण आठ प्रकार के माने गये हैं, जिनमें से चार ही मुख्य हैं ।

(१) प्रत्यक्षः—तात जनक तनया यह सोई ॥१॥

(२) अनुमानः—यह अनुहारि कौ निहारि अनुमानैं हम,
मानैं मृगया कौ चलि भूलि इत आए हौ ॥२॥

(३) उपमानः—सो रोहिणि जानहु भले, जो है सकट समान ॥३॥

(४) शाब्दः—बेद पुरान सन्त अस भाखा,
जो जस करै सो तस फल चाखा ॥४॥

अभ्यास

(१) बताओ कौन अलङ्कार हैं:—

हरि हौ तुम साँचे तबहिं, जो दुख हरि हौ मोर ॥१॥

जाके सुमिरन ते रिपुनासा। नाम शत्रुहन बेद प्रकासा ॥२॥

जसुमति कह नवनीत निहारी। मोहन की यह वस्तु पियारी ॥३॥

सघन कुंज छाया सुखद, शीतल मंद समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै, वा जमुना के तीर ॥४॥

की तुम तीन देव महँ कोऊ। नर नारायन की तुम दोऊ ॥५॥

जाकी छवि कौ देखि कै, होय मनहि विश्राम।
चित्रकूट मैं जानिये, अबहूँ राजत राम ॥६॥

(२) स्मृति (संचारी-भाव) और स्मरण में क्या अन्तर है।

(३) गूढ़ोत्तर और प्रश्नोत्तर के उदाहरण देकर लक्षण लिखो।

(४) विधि में और निरुक्ति में क्या अन्तर है।

(५) भाविक का मूल-तत्व क्या है, सोदाहरण समझाओ।

उभयालङ्कार

प्रायः काव्य में एक ही स्थान पर एक से अधिक अलंकार एक साथ आ जाते हैं। ऐसे स्थानों पर यह नहीं कह सकते कि कौन अलंकार लिया जाय और कौन छोड़ा जाय। प्रत्येक अलङ्कार अपनी कुछ न कुछ महत्ता रखता है, इसलिए:—

उभयालङ्कार—जहां इस प्रकार एक से अधिक अलङ्कार एक साथ आकर एक ही स्थान पर परस्पर मिल जाते हैं वहां उभयालङ्कार माना जाता है।

नोटः—वास्तव में उभयालङ्कार वहीं मानना चाहिये जहां किसी अलंकार में शब्द और अर्थ दोनों से सम्बन्ध रखने वाला चमत्कार प्रधान हो और उभयालङ्कारों में उन्हीं अलंकारों को लेना चाहिए, जिनका सम्बन्ध शब्द और अर्थ दोनों से है। जहां दो अलंकार परस्पर इस प्रकार मिल जाते हैं कि उनमें से किसी को भी दूसरे से पृथक नहीं कर सकते और दोनों मिलकर एक नवीन रूप धारण कर लेते हैं, वहाँ मिश्रालङ्कार मानना चाहिये। पहिले के कुछ आचार्यों ने इस प्रकार दो अलंकारों को मिलाकर एक नवीन-अलंकार बनाने की परिपाटी चलाई थी और अपह्नुव जैसे कुछ अलंकार रचे थे। किन्तु यह परिपाटी आगे जाकर लुप्त होगई। इस प्रणाली से रचे गये कुछ अलङ्कार मान भी लिए गए।

उभयालङ्कार के मुख्य दो भेद हैं:—

(अ) संकरः—दूध और पानी के समान जहाँ दो अलङ्कार परस्पर मिलते हैं, वहां अलङ्कार संकर कहलाता है।

नोटः—यह नीर-क्षीर न्याय पर आधारित है। जिस प्रकार दूध में पानी मिलकर दूध में कुछ विकार उत्पन्न करता हुआ, उसी के रूप में बदल कर अपनी सत्ता खो बैठता है, उसी प्रकार जहाँ एक प्रधान अलङ्कार के साथ मिलकर एक साधारण अलङ्कार उसमें कुछ विकार उत्पन्न करता हुआ उसी के रूप में रूपान्तरित हो जाता है, वहां अलंकार-संकर समझना चाहिए।

इसके चार भेद हैंः—(१) **अंगाङ्गी-भावः**—जहाँ एक अलंकार दूसरे से प्रगट होता हुआ फिर उसे उत्पन्न करे अथवा जहाँ दोनों अलङ्कार एक दूसरे के बिना सिद्ध न हों।

यथाः—साधु चरित शुभ सरिस कपासू।
निरस विसद गुण मय फल जासू॥
जो सहि दुख पर छिद्र दुरावा।
बंदनीय जेहि जग जस गावा॥

यहाँ प्रथम पंक्ति में उपमा अलङ्कार है, उसके फल नीरस, विसद और गुणमय में श्लेष है, और इसी श्लेष के प्रभाव से साधु-चरित और कपास की उपमा सिद्ध होती है। इसकी सिद्धि के लिए छिद्र-शब्द भी श्लिष्ट रक्खा गया है।

(२) **समप्रधानः**—जहाँ दो अलङ्कार एक साथ प्रगट हो कर एक साथ दीख पड़ें और दिन-दिनकर के सम्बन्ध से कार्य-कारण या साहचर्य्य-सम्बन्ध रक्खें। यथाः—

रघुपति कीरति कामिनी क्यों कह तुलसीदासु।
सरद प्रकास अकास छवि, चारु चिबुक तिल तासु॥

इसमें क, स, और च, के अनुप्रास, प्रतीप और रूपक एक साथ चलते हैं।

(३) सन्देहः—जहाँ दो अलङ्कार इस प्रकार मिले हों कि उनमें से किसी को प्रधान मानने में सन्देह हो। न तो एक का साधक प्रमाण ही हो और न दूसरे का बाधक वाक्य ही हो। दोनों में से किसी एक का ग्रहण और किसी एक का त्याग न किया जा सके। यथाः—

सुनि मृदु-वचन मनोहर पिय के।
लोचन नलिन भरे जल सिय के॥

यहाँ लोचन-नलिन में यह संदिग्ध है कि उपमा है अथवा रूपक। पिय के मनोहर मृदु-वचनों से सीताजी के नेत्रों में दुःखाश्रुओं का आना (सदुद्योग से अनिष्ट फल का प्राप्त होना) विषम अलंकार है। फिर द्वितीय पंक्ति में अश्रु के ब्याज से सीता के दुख रूपी कारण के कथन में अप्रस्तुत-प्रशंसा है। अब यह निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता कि कौन प्रधान है क्योंकि इसके लिए छन्द में कोई संकेत नहीं।

(४) एकवाचकानुप्रवेश :—नृसिंह (एक ही शरीर में मनुष्य और सिंह दोनों के रूपों का होना) के समान जहाँ एक ही पद में दो भिन्न २ प्रकार के अलङ्कारों के रूप दिखलाई पड़ें। अर्थात् जहाँ एक ही शब्द में शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार दोनों हों। यथा—

सोइ जल अनल अनिल संघाता ।
होइ जलद-जल जीवन-दाता ॥ १ ॥
प्रभु-पद-पंकज आसरे, मन-मधुकर लग जाइ ॥ २ ॥

यहाँ जलद-जल-जीवन में वृत्त्यानुप्रास और जीवन में श्लेष और दूसरे में पद-पंकज और मन-मधुकर में सानुप्रासिक रूपकात्मक-पद हैं।

(ब) संसृष्टि:—जिस प्रकार तिल और चावल मिलकर भी प्रथक २ दीखते रहते हैं उसी प्रकार जहाँ कई अलङ्कार एक जगह मिलकर भी एक दूसरे से प्रथक दीखें और अपनी २ स्वतंत्र सत्ता रखते हों वहाँ अलङ्कार-संसृष्टि मानते हैं।

नोट:—यह तिल-तंडुल-न्याय पर आधारित है। इसके मुख्य रूप हैं:—

(१) शब्दालङ्कार+शब्दालङ्कार:—

द्वार में दिशान में, दुनी में देश देशन में, देखौ दीप दीपन में दीपत दिगत हैं। इसमें वृत्यनुप्रास और वीप्सा नामक शब्दालङ्कारों का मिश्रण हुआ है।

(२) अर्थालङ्कार+अर्थालङ्कार:—

शशि सों सुन्दर सुमुख तहँ, लोचन जुग मञ्जु मीन ।

यहां पहिले चरण में उपमा और दूसरे में उत्प्रेक्षा दोनों मिलकर भी स्वतंत्र हैं।

(३) शब्दालङ्कार+अर्थालङ्कार:—

यथा उक्त उदाहरण में वृत्यनुप्रास भी उपमा और उत्प्रेक्षा के साथ रक्खा हुआ है।

तिल-तंडुल संसृष्टि में, संकर नीर-क्षीर ।
उभयालंकृत भेद द्वै कहैं 'सरस' मतिधीर ॥

अभ्यास

(१) उभयालङ्कार से क्या तात्पर्य्य है, उसकी परिभाषा की आलोचना करते हुए अपना विचार प्रगट करो।

(२) मिश्रालङ्कार का क्या अर्थ है ? क्या वस्तुतः ऐसे अलङ्कारों की आवश्यकता है—सतर्क लिखो।

(३) उन मुख्य न्यायों का स्पष्टीकरण करो जिन पर उभयालंकार आधारित माने गये हैं और साथ ही उदाहरण भी दो।

(४) संकर और संसृष्टि में क्या भेद है, स्पष्ट रूप से लिखो।

(५) उदाहरण दो:— केवल अनुप्रास। केवल उपमा या रूपक का। शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार के मिश्रित रूप का।

(६) सन्देह-संकर पर सोदाहरण प्रकाश डालो।

प्रश्न-पत्र

(१) "कतिपय अलङ्कार ऐसे हैं जो दूसरे अलङ्कारों के विलोम रूप हैं, इससे सिद्ध होता है कि अलङ्कारों की उत्पत्ति में विलोम-पद्धति से भी काम लिया गया है।" - इस पर आलोचनात्मक प्रकाश डालते हुए उदाहरणों से अपने विचार को पुष्ट करो।

(२) उन अलङ्कारों की सूक्ष्म-विवेचना करो जिनका सम्बन्ध व्याकरण के विशेष नियमों से है।

(३) उन अलङ्कारों का उल्लेख करो जो संगति या सम्पर्क-प्रभाव सूचक हैं।

(४) किन अलङ्कारों का सम्बन्ध क्रिया-चातुरी और किन अलङ्कारों का सम्बन्ध वाक्-चातुरी से है। सोदाहरण स्पष्ट लिखो।

(५) प्रश्नोत्तर सम्बन्धी कितने अलङ्कार हैं और उन्हें अलङ्कार कहना कहाँ तक और क्यों ठीक है।

(६) विरोधाभास की परिभाषा देते हुए दिखलाओ कि इस पर कौन २ अलङ्कार आधारित हैं।

(७) तुलना करोः—

(क) असम और सम (ख) सम और विषम (ग) विचित्र और तृतीय-विषम (घ) अल्प और अधिक (ङ) विशेष और विशेषक। (च) व्याजस्तुति और व्याजोक्ति

(८) आधार और आधेय के सम्बन्ध पर कौन से अलङ्कार रचे गए हैं, उदाहरण सहित लिखो।

(९) बताओ कौन अलङ्कार हैं:—

कमल कोषगत अलि चह्यो, कमल विकास प्रभात।
कह 'रसाल' तहँ आइ गज, कीन्ह्यो कंज निपात ॥१॥
चारि फल देत चारि चाउर चढ़ाये ते ।२।
द्रवित-कनक-रुचि जानकी, लखि राघव सँग जात।
पंख प्रफुल्लित मुदित अति, चातक-पोत लखात ॥३॥
सिय-मुख शरद्-कमल सम किमि कहि जाय।
निशि मलीन वह यह निशि दिन विकसाय ॥४॥
रैन दिन आठौ जाम, राम राम राम राम,
सीताराम सीताराम सीताराम कहिए ।५।

काव्य और काव्याङ्ग

काव्य

आनन्द का प्राप्त करना ही प्रत्येक मनुष्य का मुख्य उद्देश्य या लक्ष्य होता है, और अपने जीवन में मनुष्य सर्वत्र, प्रत्येक समय और सब प्रकार इसी की खोज में लगा रहता है। इसी के लिये वह विविध उपाय भी किया करता है। इसी विचार से प्रकृति मर्मज्ञ महर्षियों ने आनन्द प्राप्ति के लिये ही अनेक विधानों की कल्पना की है और विविध प्रकार की ललित कलाओं को उत्पन्न किया है, जिनमें से चित्त को अलौकिक आनन्द प्रदान करने वाली काव्य-कला भी एक है। काव्य-कला से न केवल कलाकार कवि को ही आनन्द मिलता है वरन् काव्य से श्रोताओं और पाठकों को भी आनन्द प्राप्त होता है। इससे प्राप्त होने वाला आनन्द ऐन्द्रिक और ऐहिक सुख नहीं, किन्तु आत्मिक और अलौकिक है। इसीलिये यह अति प्रभावपूर्ण और चिरस्थायी होता है। इस आनन्द की तुलना आचार्यों और कवियों ने ब्रह्मानन्द से की है, और इसे ब्रह्मानन्द-सहोदर भी कहा है। वास्तव में काव्य विचित्र और पवित्र आनन्द प्रदान करता है। इस आनन्द का सम्बन्ध हृदय (Heart) और मन (मस्तिष्क या Mind) से ही है, और इसीलिये इसमें हृदय की भावनाओं तथा मन की वृत्तियों की मोहिनी-लीला रहती है।

मानव प्रकृति की विभिन्न मनोवृत्तियों में से प्रमुख मनोवृत्तियां मानी जाती हैं :—

१. आत्माभिव्यञ्जन—जिसकी प्रेरणा से मनुष्य जो कुछ देखता, सुनता, समझता और सोचता है उसे अपने ही में न रख कर दूसरों पर व्यक्त करता है। अस्तु इसी मनोवृत्ति के कारण भाषा की उत्पत्ति होती है, और काव्य भाषा पर ही आधारित है। इसलिए कह सकते हैं कि काव्य का सम्बन्ध इस मनोवृत्ति से भी है और वह हृदय के विचारों, भावनाओं आदि को व्यक्त करता है।

२. दूसरी मनोवृत्ति है सौन्दर्य-प्रियता, जिससे प्रेरित होकर मनुष्य सर्वत्र सौंदर्य की ही खोज किया करता है। सौन्दर्य से हृदय को एक विशेष प्रकार का सुख प्राप्त होता है। इसीलिये मनुष्य को अपने प्रत्येक आचार-विचार में सौन्दर्य लाने की उत्कट इच्छा रहती है। काव्य में भी इसीलिये सौन्दर्यकारी तत्वों का सन्निहित करना अनिवार्य हो जाता है और सौन्दर्य ही काव्य में प्रबल और प्रधान सा ठहरता है। काव्य में चूँकि भाषा और भाव दो प्रधान तत्व रहते हैं इसलिये इन दोनों तत्वों में सौन्दर्य का सामंजस्य करना आवश्यक होता है और काव्य रमणीय हो जाता है। इसीलिये काव्य की परिभाषा देते हुए कहा गया है "रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" अर्थात् रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्द समुच्चय काव्य है। शब्द-समुच्चय से तात्पर्य यहां हृदय और मन के भाव भावना प्रकाशक भाषा के पदों या वाक्यों से है। इसलिये काव्य में रमणीय सुखद

और सुन्दर भावा के साथ भावनाओं का अभिव्यंजन अनिवार्य है। केवल भावों या विचारों के ही प्रकाशन को काव्य नहीं कह सकते क्योंकि यह कार्य केवल मस्तिष्क या मन का ही है और हृदय का इससे अनिवार्य सम्बन्ध नहीं। किन्तु काव्य का सम्बन्ध, जैसा कहा गया है, हृदय से अनिवार्य रूप में रहता है। अस्तु काव्य में हृदय तत्व, जिसके अन्तर्गत हृदय की भावनाएँ (Feelings and emotions) आती हैं, प्रधान और प्रबल हो जाता है। इसी विचार से काव्य के लिए कहा गया है "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" अर्थात् रसात्मक वाक्य काव्य है।

मानसिक-विचारों और हार्दिक-भावनाओं को अन्तर्जगत से वहिर्जगत में स्पष्ट और सुबोध रूप में लाना भाषा और उसके शब्द समुच्चय से निर्मित होने वाले वाक्यों का ही काम है। भाषा ही इसलिए काव्य का कलेवर है। जिस प्रकार भावों और भावनाओं को रमणीय बनाना काव्य के लिए अनिवार्य है उसी प्रकार काव्य कलेवर रूपी भाषा को भी रमणीय बनाना आवश्यक है। भाषा में रमणीयता लाने के विविध विधानों में से चातुर्यमय-चमत्कार वैचित्र्य सर्वातिमुख्य है। भाषा-सौन्दर्य के ये ही दोनों पुरुष तत्व हैं और भाषा के प्राण भी यही हैं। अब कहना चाहिये कि काव्य की भाषा में चातुर्य चमत्कार पूर्ण वैचित्र्य का होना भी अनिवार्य है क्योंकि भाषा की रमणीयता इसी पर आधारित है। अब काव्य की परि-

भाषा में कहा जा सकता है कि "काव्य अलौकिक आनन्द देने वाला वह रमणीय रसात्मक और सुन्दर भाव, भावनाओं का प्रकाशक वाक्य है जिसमें चमत्कृत चातुर्य और वैचित्र्य हो"।

तीसरी मनोवृत्ति जो प्रधानता रखती है, वह है जिसकी प्रेरणा से मन, कोमलता, मधुरता, और मंजुलता की ओर झुकता है तथा सरलता और स्पष्टता को चाहता है। इसी के साथ कभी २ कौतुक-प्रियता नामी मनोवृत्ति जिसमें कुतूहल-प्रियता भी आ जाती है अपना प्रभाव दिखलाती है और इसी की प्रेरणा से कुतूहलानन्द-कारक विविध प्रकार के कौतुकों की ओर मनुष्य आकृष्ट होता है। चमत्कार और वैचित्र्य इसी के परिणाम हैं। काव्य-कला में इस मनोवृत्ति का भी अच्छा प्रभाव रहता है। अब कह सकते हैं कि:—

"काव्य एक वह ललित कला है जिसमें कला-कौशल-पूर्ण चारु-चमत्कृत वैचित्र्य भी सरस, मधुर और मञ्जुल भाषा के द्वारा मानसिक भावों एवं भावनाओं का स्वाभाविकता, स्पष्टता और सुन्दरता के साथ जीवनानुभूति की व्यञ्जना से पूर्ण ऐसा रमणीय चित्रण किया जाता है कि उससे हृदय-अलौकिक आनन्द का अनुभव करने लगता है"।

इसी के साथ हम यदि और स्पष्ट करके निष्कर्ष रूप में काव्य पर प्रकाश डालना चाहें और उसके एक २ तत्व को प्रथक् रखना चाहें तो हम इस प्रकार कहेंगे:—

काव्य का प्राण रस है, भाव उसका हृदय है, अर्थ-गौरव उसका मन या मस्तिष्क है, भाषा उसकी देह है, और उसको सुसज्जित करने वाले विधान अलंकार हैं। काव्य की बुद्धि या मति में अविधा, लक्षणा और व्यंजना तीन शक्तियां रहती हैं। माधुर्य, प्रसाद, लालित्य, ओज और कान्ति नामक इसके प्रमुख गुण हैं। सौन्दर्य इसका मोहन स्वरूप है। आनन्द देना इसका स्वभाव है। चमत्कृत वैचित्र्य-पूर्ण पद-रचना-शैली इसकी रीति है।

अब यह स्पष्ट हो गया होगा कि काव्य में मूलतः तीन अंगों की प्रधानता रहती है। अर्थात् रस, भाव और भाषा। भाषा के अन्तर्गत माधुर्य आदि गुण, रचना, शैली, अलंकार और अविधादि शब्द-शक्तियां आ जाती हैं। भाव के अन्तर्गत अर्थ गौरव के साथ विचार धारा और उसके फल स्वरूप में भावनाओं का तारतम्य आता है, जिससे काव्य में रसवत्ता आती है। काव्य-शास्त्र में काव्य के इन्हीं सब अंगों का वैज्ञानिक-विवेचन किया जाता है। काव्य में संगीत की भी जब पुट लगा दी जाती है तब पद्य-काव्य की उत्पत्ति होती है। संगीत से मधुर-तर और कुछ नहीं (Nothing is sweeter than music) इस विचार से माधुर्यानन्द के लिए संगीत का सामंजस्य काव्य के साथ उचित समझा गया और एक विशेष प्रकार के विधान-द्वारा काव्य पर संगीत की छाप लगाई गई। इस प्रकार विविध प्रकार की छन्दों का अविर्भाव हुआ, जिनकी

रचना व्यवस्था का विवेचन पिंगल या छन्द शास्त्र में किया जाता है।* देखो 'सरस-पिंगल'

काव्य के भेद

प्रथम जैसा कि उक्त लेख से स्पष्ट है काव्य के दो मुख्य भेद होते हैं। १—पद्य-काव्य, जिसमें काव्य के उक्त सभी गुणों के साथ ही साथ संगीत सुख दायक छन्द-व्यवस्था भी एक आवश्यक अंग के रूप में रहती है। स्मरण रखना चाहिए कि संगीत और काव्य सम्बन्धी छन्दो विधान में बहुत अन्तर है। संगीत स्वरों और ध्वनियों पर ही पूर्णतया आधारित रहता है, किन्तु काव्य सम्बन्धी छन्दोविधान मात्राओं और वर्णों की एक विशेष व्यवस्था पर समाधारित रहता है। इसमें वर्ण गणना और मात्रा गणना की प्रधानता रहती है। यह बात संगीत में नहीं पाई जाती।

२—गद्य-काव्य, जिसमें काव्य के और सभी गुण, रस, भाव आदि तो ज्यों के त्यों ही रहते हैं किन्तु छन्दोविधान मूलक संगीत की सुषमा नहीं रहती। और पद्य के स्थान पर गद्य को ही प्रधानता दी जाती है। गद्य-काव्य के अन्तर्गत, उपन्यास, आख्यायिका-कथा आदि आते हैं। निबन्ध मूलक गद्य-काव्य भी अपना एक विशेष स्थान रखता है।

पद्य-काव्य-भेद

काव्य के, आचार्यों ने भिन्न २ कई विचारों से कई प्रकार के भेद किए हैं। रचना के अनुसार १—वर्णनात्मक, जिसमें किसी दृश्य, घटना, स्थान, समय आदि का चित्रोपम विधान से वास्तविक वर्णन किया जाता है।

२—कथात्मक या प्रबन्धात्मक, जिसमें किसी विशेष उद्देश्य से किसी आदर्श पुरुष की जीवनी अथवा उसके जीवन की प्रमुख घटना या घटनाओं का काव्योचित कथन कथा के रूप में किया जाता है और एक प्रबन्ध या निबन्ध सा बांधा जाता है। किसी एक विषय पर काव्योचित शैली से निबन्ध का निबन्धन करना भी एक विशेष रूप होकर इसी के अन्तर्गत है। ३—मुक्तक, जिसमें सरसता को प्रधानता देकर किसी एक छोटे से भाव को स्वतंत्र रूप से एक छन्द में चित्रित किया जाता है।

अर्थ-शक्ति के विचार से काव्य के तीन भेद किए गए हैं। ध्वनि मूलक काव्य तो उत्तम माना गया है और व्यंग्य मूलक तथा वाच्यार्थ मूलक क्रमशः मध्यम और निकृष्ट माने गए हैं। जहां काव्य के अन्य उत्कृष्ट गुणों की अविद्यमानता रहती है और एक बात पद्य के रूप में बाँध दी जाती है वहां काव्य न होकर पद्यात्मक गद्य (Versified prose) ही रहता है। इस प्रकार की रचना को काव्य में स्थान नहीं मिलता। इन्द्रियार्थ भेद से काव्य के दो रूप होते हैं। १—दृश्यः—जो देखा जा सके अर्थात् जिसे आखों के सामने प्रत्यक्ष रूप में दिखाया जा सके और जिसका अभिनय हो सके। इसी को रूपक और नाटक आदि कहा गया है। २—श्रव्यः—जिसका अभिनय न हो सके और केवल सुन कर या पढ़ कर ही जिसका आनन्द लिया जा सके। भाषा-भेद से भी काव्य के भेद किए गए हैं और

किए भी जा सकते हैं किन्तु यह वर्गीकरण कोई विशेष महत्व नहीं रखता। जहां गद्य और पद्य दोनों के साथ में काव्योचित प्रबन्ध बांधा जाता है उसे चम्पू* कहते हैं। नाटक में भी कहीं २ आवश्यकतानुसार गद्य के साथ पद्य भी रक्खे जाते हैं, किन्तु चम्पू के समान नहीं। काव्य के और भी प्रकार के भेदोपभेद किए जा सकते हैं किन्तु उनका उल्लेख करना यहां अनावश्यक सा है।

*"गद्य-पद्य मयी वाणी चम्पूरित्यवधीयते।"

काव्य का उद्देश्य

किस उद्देश्य या लक्ष्य के साथ काव्य की रचना की जाती है निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। "भिन्न रुचिर्हि लोकः" के आधार पर काव्य-रचना के प्रथक २ उद्देश्य हुआ करते हैं। आचार्यों ने इस विषय पर प्रायः अपना यही विचार प्रगट किया है कि काव्य का मुख्य लक्ष्य या उद्देश्य लोकोत्तर आनन्द का प्राप्त करना ही है। क्योंकि, जैसा दिखलाया जा चुका है, आनन्द ही मानव-जीवन का मुख्य उद्देश्य है। जब जिस प्रकार आनन्द में रूपान्तर होता है उसी प्रकार काव्य के लक्ष्य में भी रूपान्तर लक्षित होने लगता है। जीवन में मनुष्य किसी न किसी रूप से अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष के ही लिए प्रयत्न-शील हुआ करता है। काव्य भी इनकी अथवा इनमें से किसी एक की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है। इनके अतिरिक्त आत्मानन्द के लिए (स्वान्तःसुखाय या Self pleasure) भी काव्य की

रचना की जाती है और यश का प्राप्त करना भी काव्य का उद्देश्य हुआ करता है। मम्मट ने इस विषय पर प्रकाश डालते हुए काव्य के उद्देश्यों को इस प्रकार दिखलाया है:—काव्य यश, अर्थ-लाभ, (द्रव्य-लाभ) व्यवहार-ज्ञान, कल्याण (दुःख-नाश) और परमानन्द, उपदेश एवं सम्मति के उद्देश्य रखता है।*

"काव्यं यशसेऽर्थ कृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः पर निवृत्तये कान्ता सम्मिततयोपदेशयुजे" ॥

पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार काव्य का मूल उद्देश्य सौन्दर्य और आनन्द है, जिस प्रकार भी, जहां भी और जैसे भी कवि को इनकी प्राप्ति होगी और इनकी प्राप्ति पर वह जिस प्रकार भी अपनी आन्तरिक भाव-भावनाओं को प्रकाशित करेगा, वही काव्य होगा। कवि कभी २ अपने ज्ञान और अनुभव को दूसरों पर सरसता, सुन्दरता और मनोरंजकता के साथ इसलिए व्यक्त करता है, जिसमें उन्हें भी उसके ज्ञानानुभव से लाभ हो। इसलिए लोक-मांगल्य और विश्व कल्याण को भी काव्य का उद्देश्य या लक्ष्य माना गया है। प्रत्यक्ष संसार से आगे चल कर भावना-क्षेत्र में विचरण करता हुआ कवि प्रायः कल्पना के सुन्दर और आनन्दप्रद संसार में पहुँच कर वहां की समाकर्षक और सौख्यप्रद बातों को काव्य के रूप में कलित करके भावुक और सहृदयजनों के सम्मुख उपस्थित करता है। इसी के साथ २ कभी २ वह बाह्य प्रकृति

से सुन्दर रहस्यों की खोज करके अपनी सुन्दर भाषा में सरसता के साथ प्रस्फुटित करता हुआ जनता के सन्मुख प्रगट करता है और मानव व्यापार में अनुरक्ति रखने वाली मनोवृत्ति से प्रेरित होकर कभी २ वह मानव-प्रकृति के क्षेत्र में घूम फिर कर उसकी भाव, भावना रूपी रहस्य मयी बातों को व्यँजित करने में लग जाता है और मानव-चरित्र-चित्रण किसी आदर्श को सामने रख कर करता है। कभी २ संसार से परे वह एक अनन्त सौन्दर्य शालिनी, अपरिमेय, सत्य ज्ञानमयी, अपरिमित एवं अक्षय आनन्द-पूर्ण रहस्यमयी और अज्ञेय सत्ता की खोज करता हुआ भक्ति, प्रेम और श्रद्धा के साथ उसमें लीन होकर संसार के लिए, जो कुछ अपने अनुभवादि का काव्य के द्वारा स्पष्टी करण करता है वह भी एक सुन्दर काव्य होकर आनन्द-दायक ठहरता है। इस प्रकार कहना चाहिए कि कहीं कवि बुद्धि तत्व को लेकर चलता है और कहीं रागात्मक तत्व को।

कभी २ वह एक अभीष्ट आदर्श का चित्रण करके जनता को सौन्दर्यानन्द दायक एक दैवी-सन्देश सा सुनाता है। इसमें न केवल आत्मानन्द का ही भाव रहता है वरन् लोक-सुधार और विश्व-मंगल का भी विचार सन्निहित रहता है। इसीलिए कवि और उसके काव्य का उद्देश्य किसी २ ने सत्यं, शिवं और सुन्दरं के रूप में माना है। यदि विचार-पूर्वक देखा जाय तो अब निष्कर्ष यही निकलता हुआ प्रतीत होता है कि कवि और काव्य का मूल उद्देश्य या मुख्य लक्ष्य सत्य-सौन्दर्यानन्द

का अनुभव-ज्ञान ही है। यह किसी भी रूप में हो और किसी भी प्रकार, कहीं भी मिले।

काव्य के अंग

उक्त लेख से यह तो स्पष्ट ही हो गया होगा कि काव्य के मुख्य अंग हैं, १-भावः—जिसके अन्दर विचार, भावना, कल्पना आदि आ जाते हैं २-भाषाः—जिसके अन्दर शब्द-शक्ति (लक्षणा, व्यंजना, अविधा) प्रसाद, माधुर्यादि गुण, शब्द और अर्थ-सम्बन्धी अलंकार, पद-रचना-रीति या शैली और छन्द आदि के विधान आते हैं। इसीलिए कहा गया है कि "शब्द (भाषा) और अर्थ का सम्मिश्रण ही काव्य है।"* यह भी कहा जा चुका है कि काव्य में रसवत्ता का होना अनिवार्य सा है। 'रस ही काव्य का प्राण है।' इसीलिए काव्य शास्त्र में रस का विवेचन अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

*"शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" भामः

काव्य और रस

काव्य में, जैसा कि कहा जा चुका है, रस ही प्राण या सार तत्व है। इसीसे काव्य हृदय को आकर्षित करके द्रवीभूत करता हुआ एक विचित्र प्रकार के आनन्द से उद्दीप्त कर देता है। कहा गया है "ब्रह्मैव रसः रसो वै सः" अर्थात् रस ही ब्रह्म है वही रस है और इसीलिए सरस काव्य-जनित आनन्द, ब्रह्मानन्द-सहोदर माना गया है।

रस-सिद्धान्त के प्रथम प्रवर्तक जहाँ तक ज्ञात होता है भरत मुनि ही हैं। इन्होंने अपने लोक प्रसिद्ध नाट्य-शास्त्र में सब से प्रथम रस-सिद्धान्त की विस्तृत-विवेचना की है। सम्भवतः काव्य में प्रथम अलङ्कारों को ही प्रधानता दी जाती थी।* किन्तु नाटकोंकी रसवत्ता से प्रभावित होकर आचार्यों ने फिर भरत-मुनि-कृत "नाट्य-शास्त्र" के रस-सिद्धान्त को लेकर काव्य-शास्त्र में रख दिया। आगे चल कर काव्य में रस की ही प्रधानता हो गई और इसीलिए काव्य-शास्त्र में भी रस की विवेचना का बहुत बड़ा महत्व और स्थान हो गया।

*' तदेवमलंकाराएव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानाम् मतम्"

रस कहा गया है "रस्यते अनेनेति रसम्" अर्थात्' 'जिससे हृदय द्रवीभूत होकर रसने लगे उसे रस कहते हैं।" भरत मुनि ने लिखा है कि विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। अर्थात् इन तीनों के संयोग से काव्य में सरसता आती है।* इसी प्रकार साहित्य दर्पण में श्रीविश्वनाथ ने लिखा है कि विभाव, अनुभाव और संचारी भाव से व्यक्त होकर रति आदि स्थायी भाव मनुष्यों के लिए रसता उत्पन्न करते हैं।

*"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः"

"विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम् ॥"

मानव-हृदय में स्वभावतः ही भावनाएं उठा करती हैं।

मनोविज्ञान के आचार्यों ने मस्तिष्क या मन (Mind) की तीन शक्तियों में से भावना-शक्ति (Feeling) को भी एक प्रमुख शक्ति माना है। इसी के प्रभाव से मनोविकारों (Emotions) को जागृति मिलती है और इन्हीं से रसों (Sentiments) की सिद्धि या उत्पत्ति होती है।

स्थायी-भाव

"हृदय का वह भाव अथवा मन की वह दशा है जो किसी बात के सुनने, देखने आदि से स्वभावतः ही उत्पन्न होकर स्थायी रूप से कुछ समय तक स्थिर रहती है।" इसे विरुद्ध अथवा अविरुद्ध किसी प्रकार का भी अन्य भाव दबा या छिपा नहीं सकता। ये किसी प्रकार विकृत नहीं होते। स्थायी-भाव और रस में वीजांकुर-सम्बन्ध है, अतः कह सकते हैं कि स्थायी-भाव ही रस की अवस्था को प्राप्त होते हैं। स्थायी-भावों की अनुभूति, जो भावुक जनों की आत्माओं में रहती है, प्रथम अव्यक्त रह कर ज्ञात नहीं होती किन्तु किसी बात को देख या सुनकर (नाटक और काव्य के अवलोकन या पठन से) वही विभावादि के संयोग से जागृत हो जाती है और फिर एक विचित्र प्रकार के आनन्द का अनुभव कराने लगती है। तभी स्थायी-भाव में रसत्व आता है। इसीलिए कहा गया है कि "विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी-भावों के द्वारा स्थायी-भाव व्यक्त होकर रस को प्रकाशित करते हैं।" स्मरण रखना चाहिए कि इन सब के संयोग से ही अलौकिक रसानन्द का उद्रेक होता है अन्यथा नहीं।

विभाव

"उक्त स्थायी-भाव को जागृत करने में जो कारण-रूप से आता है उसे विभाव कहते हैं।" इसी के कारण आत्मा में वासना के रूप से रहनेवाले रति आदि स्थायी-भाव अंकुरित होकर रस रूप में विकसित होते हैं। इसके दो भेद हैं। १. उद्दीपन—जिसके कारण भाव उद्दीप्त होते या व्यक्त हो कर बढ़ते हैं। मनोविकारों को इन्हीं से उत्तेजना प्राप्त होती है। वे सब पदार्थ, स्थान, समय एवं परिस्थितियों के रूप से उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत हैं, जिनके देखने से भावोंमें जागृति आती है। पुष्प बाटिका, सुन्दर समीर, कोकिल आदि का मधुरालाप स्वभावतः ही मानव-मानस में रति या प्रेम की जागृति कराते हैं। अस्तु, यही उद्दीपन-विभाव हैं, क्योंकि प्रेम जैसे मनोविकार को इन्हीं के प्रभाव से विश्वास एवं प्रकाश प्राप्त होता है।

आलम्बन

"उस विभाव को २. आलम्बन—की संज्ञा दी गई है जिसका आलम्बन करके मनोविकार या आन्तरिक स्थायी-भाव उत्पन्न होता है, और जिस पर वह आधारित रहता है।" रसास्वादन का आनंदांकुर आधेय होकर आलम्बन विभाव के आधार पर ही आधारित रहता है। यदि स्थायी भाव या उसका रूपान्तर रस अंकुर है, तो आलम्बन-विभाव उसका बीज है और उद्दीपन-विभाव उस अंकुर को बढ़ाने वाले अन्यान्य साधन या विधान हैं। काव्य या नाटक में जिस प्रमुख पात्र या जिन पात्रों को सुनकर सहृदय जनोंके हृदयों में स्थायी

भाव अंकुरित होता है और जिन पर आधारित रहता है उन्हें आलम्बन-विभाव में मानते हैं। ध्यान रखना चाहिए कि काव्य या नाटक के इन्हीं प्रमुख-पात्रों में उद्दीपन आदि के प्रभाव से स्थायी-भाव उद्दीप्त होकर व्यक्त होते हैं। उनका अनुभव करके सहृदय जनों के आन्तरिक स्थायी-भावों में जागृति आती है, और वे इसीलिए उन पात्रों पर आधारित या अवलम्बित रहते हैं, अस्तु उन पात्रों को आलम्बन-विभाव में माना जाता है।

अनुभाव

का शाब्दिक अर्थ है भाव के पीछे आने वाला। अतः "विभावों के उत्पन्न होने पर जिन भावों की उत्पत्ति या जागृति होती है और जो स्थायी-भावों की जागृति को सूचित करते हुए उनका अनुभव या बोध कराते हैं उन्हें अनुभाव कहते हैं।" कहना चाहिए कि "आलम्बन और उद्दीपन विभावों से जागृत होने वाले स्थायी-भावों को आंगिक अथवा दूसरे प्रकार की शारीरिक चेष्टाओं से बाहर व्यक्त या प्रकाशित होने वाले भावों को अनुभाव मानते हैं।" मनोविज्ञान में इन्हीं को (Expressons of Emotion) भावना-प्रकाशक-भाव कहते हैं। जैसे क्रोध से शरीर पर विचित्र प्रकार के जो विकार उत्पन्न होते हैं—अर्थात् आंखें चढ़ जाती हैं, मुख विकृत हो जाता है, भौंहें वक्र हो जाती हैं, शरीर तमतमा उठता है—वे सब अनुभाव ही कहे जाते हैं। "वास्तव में स्थायी-भाव की उपस्थिति का अनुभव, अनुभावों से ही होता है।" भिन्न २ प्रकार के स्थायी-भावों का प्रभाव शरीर पर भिन्न २ रूप से पड़ा करता है,

इसीलिए भिन्न २ प्रकार के स्थायी-भावों के प्रथक २ अनुभाव होते हैं। इनकी संख्या निश्चित नहीं। स्थूल रूप से अनुभावों को चार मुख्य श्रेणियों में बांट सकते हैं।

१. अंगज—जो शरीर से सम्बन्ध रखते और अंगों में उत्पन्न होते हैं। इसके तीन रूप हैं (अ) भाव-निर्विकार चित्त में विकार उत्पन्न करने वाला। (ब) हाव—नेत्रादि के विकारों से आन्तरिक भावनाओं की अल्प सूचना देने वाला। (स) हेला—मनोविकारों को पूर्ण रूप से प्रस्फुटित और लक्षित करनेवाला।

२. अयत्नज—जो बिना किसी प्रकार के यत्न किये ही उत्पन्न होते हैं। जैसे सौन्दर्य, कान्ति, औदार्य, धैर्य, दीप्ति, प्रागल्भ (निर्भयता) आदि।

३. स्वभावज—जो कृति-साध्य होकर स्वभाव-सिद्ध होते हैं। इनके १८ रूप हैं। जिनमें लीला, विकास, विभ्रम, मद, तपन, हसित, कुतूहल आदि प्रमुख हैं।

४. सात्विक—अन्तःकरण के रस-प्रकाशक विशेष धर्म को 'सत्व' कहते हैं। इससे उत्पन्न होने वाले विकारों को सात्विक कहते हैं। यह आठ हैं:—स्तम्भ (अंगों की चेष्टाओं का रुकना), स्वेद (पसीना आना), रोमांच, स्वर-भंग, बेपथु (कम्पन) अश्रु और प्रलय (चेष्टा करने का ज्ञान न रहना)।

संचारी या व्यभिचारी-भाव स्थायी भाव को जिन भावों से सहायता सी प्राप्त होती है और जो चित्त-वृत्तियां सहकारिणी सी होकर स्थायी-भाव के साथ कुछ समय तक

चलती हुई अपना प्रयोजन पूरा करके लुप्त हो जाया करती हैं उन्हें संचारी या व्यभिचारी भाव कहते हैं। सभी स्थायी-भावों में इनका उदय और लोप होता रहता है, और यह विशेष २ अवस्थाओं पर पानी के बुलबुलों के समान प्रगट होकर लीन हुआ करते हैं। यह ३३ हैं—यथा-शंका, ग्लानि, श्रम, मद, आलस्य, दैन्य, मोह, चिन्ता, स्मृति, व्रीड़ा (लज्जा), हर्ष, गर्व, औत्सुक्य, निद्रा, अमर्ष, उन्माद, त्रास आदि।

स्थायी-भाव, जिनका ऊपर वर्णन किया गया है, ६ हैं:—

१. रति—(प्रीति) दो व्यक्तियों में, विशेषतः स्त्री-पुरुष में, जो प्रीति होती है उसे रति कहते हैं। इसी रति का सम्बन्ध जब देवता, गुरु और पुत्रादि से होता है तब इसकी भाव संज्ञा होती है।

२. हास—चित्त का विकसित होना हास कहलाता है। मुसकान (स्मित) अट्टहास आदि इसके भेद हैं।

३. शोक—अभीष्ट-विनाश से चित्त का व्याकुल होना शोक कहलाता है। गुरुजनों के हृदयों में करुणा के उत्पन्न होने पर यही भाव हो जाता है।

४. क्रोध—किसी उग्र अपराध से चित्त में क्रूर वृत्ति का उत्पन्न होना क्रोध है। अल्प अपराधों से कठोर वचन कहना अमर्ष नामक संचारी-भाव है।

५. उत्साह—कार्य करने में जो उत्कट आवेश होता है वही उत्साह है।

६ भय—किसी हानिकारक वस्तु से चित्त में जो व्याकुलता या खिन्नता आती है उसे भय या डर कहते हैं।

७. जुगुप्सा—दोषों के देखने से किसी के प्रति उत्पन्न होने वाली घृणा है।

८. विस्मय—अलौकिक वस्तु के देखने आदि से आश्चर्य का उत्पन्न होना विस्मय है।

९. शम या निर्वेद—संसार की असारता से उत्पन्न होने वाले वैराग्य को कहते हैं।

रस

ऊपर जिन स्थायी-भावों का वर्णन किया गया है वे ही विकसित होकर ९ रस हो जाते हैं। १-रति से शृंगार २-हास्य से हास्य, ३-शोक से करुण, ४-क्रोध से रौद्र, ५-उत्साह से वीर, ६-भय से भयानक, ७-जुगुप्सा से वीभत्स, ८-विस्मय से अद्भुत और ९-शम से शान्त रस विकसित होते हैं।※

※"शृङ्गार, हास्य, करुणा; रौद्र, वीर, भयानक।
वीभत्साद्भुत, विज्ञेय शान्तश्च नवमोरसः।"

स्मरण रखना चाहिये कि उक्त "स्थायी-भाव जब स्थायी न रह कर अपने रस से प्रथक होते हुए किसी दूसरे रस में उत्पन्न और विलीन होने लगते हैं तब वे भी संचारी या व्यभिचारी भाव बन जाते हैं।"

रस-विचार

ऊपर जिन नव-रसों का वर्णन किया गया है उनमें से किसी २ ने शान्त को दृश्य-काव्य या नाटक में रस नहीं माना। किसी २ ने कुछ और नवीन रस भी माने हैं

यथा भक्ति और वात्सल्य, किन्तु दूसरे आचार्यों ने इनको शृङ्गार के ही अन्तर्गत माना है। प्राचीन आचार्यों ने शृङ्गार रस को व्यापक, स्वाभाविक और स्थायी समझ कर रस-राज कहा है। भवभूति जैसे कुछ कवियों ने करुण-रस* को और कुछ ने वीर-रस को प्रधान माना है।

*"एकोरसः करुणमेव निमित्त भेदात्" (करुण ही एक मुख्य रस है अन्य रस इसी के शिथिल भेद से होते हैं।

शृङ्गार रति नामक स्थायी-भाव से विकसित या अंकुरित होता है। नायक और नायिका इसके आलम्बन-विभाव हैं। कवियों ने नायक और नायिका के भेदोपभेदों पर बहुत बड़ी रचना की है। यहाँ इस विषय को विस्तृत रूप से देना अनुपयुक्त ठहरता है। रति या प्रीति को उत्पन्न करने वाले चन्दन, पुष्प, भ्रमर, कोकिल आदि पदार्थ, चन्द्र, चन्द्रिकामयी निशा, बसन्त-ऋतु, पुष्प-वाटिका, आदि स्थान और समय, शीतल-समीर आदि विधान इसके उद्दीपन विभाव हैं। सानुराग भाव-पूर्ण दृष्टि, भ्रकुटि-भंगिमा आदि इसके अनुभाव, उग्रता, आलस्य, जुगुप्सा आदि को छोड़ कर अन्य निर्वेदादि इसके व्यभिचारी-भाव हैं।

इसके दो भेद हैं, १-संभोग-शृंगारः—जिसमें प्रेमानुरक्त नायक और नायिका के पारस्परिक दर्श-स्पर्श का वर्णन किया जाता है। यह कहीं नायिकारब्ध और कहीं नायकारब्ध होता है। २-विप्रलम्भ—जिसमें उत्कट प्रेमानुरक्त नायक-नायिका का

किसी प्रकार वियोग दिखलाया जाता है। इसमें चिन्ता, इच्छा या अभिलाषा, स्मृति, गुण-कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मृति दशायें होती हैं। इसके ५ मुख्य भेद हैं (अ) अभिलाषा-हेतुक या पूर्वानुरागः—(गुण, श्रवण, चित्र, स्वप्न या प्रत्यक्ष-दर्शन से अनुराग उत्पन्न होना। (ब) ईर्षा-हेतुक मान-गुमान से पार्थक्य होना (स) विरह-हेतुकः—गुरु-जन-लज्जा से प्रथक रहना (द) प्रवास-प्रेमी का अन्यत्र चला जाना (क) श्राप-हेतुकः–श्राप से वियोग होना। विष्णु तो श्रृङ्गार रस के देवता हैं और श्याम इसका वर्ण माना गया है।

हास्य

विकृत आकार, वाणी, वेश और चेष्टा आदि से हास्य उत्पन्न होता है। इसका स्थायी-भाव हास, जिसे देख कर हँसी आवे वह आलम्बन, हासोत्पादिनी चेष्टा आदि उद्दीपन, मुख-विकास, नेत्र-स्फुटन आदि अनुभाव, निद्रा, आलस्यादि इसके संचारी-भाव हैं। इसके ६ मुख्य भेद हैं :— (अ) स्मित (मुस्कराहट), (ब) हसित, (स) विहसित, (द) अवहसित, (क) अपहसित, (ख) अतिहसित। हास्य का वर्ण उज्वल माना गया है।

करुण

इष्ट-नाश और अनिष्ट-प्राप्ति से इसका आविर्भाव होता है। शोक इसका स्थायी-भाव, शोचनीय व्यक्ति आलम्बन; तत्सम्बन्धी कथादि उद्दीपन; दैव-निन्दा, रोदन, उच्छ्वास, स्तम्भ और प्रलापादि अनुभाव; मोह, ग्लानि, श्रम, चिन्ता, स्मृति, दैन्य, उन्मादादि संचारी-भाव हैं।

रौद्र — मान-भंगादि से उत्पन्न होता है। क्रोध स्थायी-भाव, अपराधी आलम्बन; अपराध उद्दीपन; नेत्र रक्तता, भृकुटि भंग, ओठ चर्बन, कठोर भाषण, गर्जन, तर्जनादि अनुभाव; मद, अमर्ष आदि इसके संचारी-भाव हैं। स्मरण रहे कि वीर रस में भी यही सब आलम्बनादि होते हैं किन्तु रौद्र में क्रोध स्थायी रहता है और वीर में उत्साह।

वीर — अत्यन्त उत्साह से उत्पन्न होता है। उत्साह स्थायी भाव; हर्ष गर्वादि संचारी; रोमांचादि इसके अनुभाव हैं। वीर रस के नायक के चार भेद हैं। (अ) दानवीर (ब) धर्मवीर (स) युद्धवीर (द) दयावीर।

मम्मट ने केवल युद्धवीर को ही वीर रस का नायक माना है किन्तु कुछ अन्य आचार्यों ने दानवीर आदि को भी ले लिया है।

भयानक — भयंकर वस्तु के कारण उत्पन्न होता है। भय स्थायी; भयकारक व्यक्ति आलम्बन; भयकारिणी चेष्टाएं उद्दीपन; स्वेद कम्प, रोमांचादि अनुभाव; त्रास चिन्तादि इसके संचारी भाव हैं।

वीभत्स रस — घृणित वस्तु से उठने वाली ग्लानि से प्रगट होता है। जुगुप्सा स्थायीभाव; घृणित वस्तु आलम्बन, उसकी घृणित दशाएं उद्दीपन, थूकना, आँख मींचना आदि अनुभाव; मोह, आवेगादि इसके संचारी भाव हैं।

अद्भुत — आश्चर्य कारक वस्तु से उत्पन्न होता है। विस्मय स्थायीभाव, आश्चर्य जनक वस्तु आलम्बन; उसकी आश्चर्य करी दशाएं उद्दीपन; स्तम्भ, स्वेद, रोमांचादि अनुभाव; वितर्क और हर्षादि इसके संचारी भाव हैं।

शान्त — वैराग्य से उत्पन्न होता है। निर्वेद इसका स्थायी-भाव; ब्रह्म और नश्वर संसार आलम्बन, तपोवन, गंगादि पवित्र स्थान, साधु सत्संगादि उद्दीपन, रोमांचादि अनुभाव; हर्ष, स्मृति और मति आदि इसके संचारी भाव हैं। शान्त रस में सुख, दुख, चिन्ता, द्वेष, राग, इच्छा आदि का नितान्त लोप रहता है।

उक्त ९ रस एक दूसरे के अनुकूल और प्रतिकूल भी हुआ करते हैं। वीर और शृङ्गार और हास्य, वीर और अद्भुत, वीर और रौद्र तथा शृङ्गार, शृङ्गार और अद्भुत में परस्पर अविरोध है। यह एक दूसरे के अनुकूल से रहते हैं। इनका पारस्परिक विरोध इस प्रकार है।

रस	विरोधी रस
शृङ्गार	करुण, वीभत्स, रौद्र, वीर, भयानक
हास्य	करुण, और भयानक
करुण	शृङ्गार और हास्य
रौद्र	शृङ्गार और भयानक
वीर	भयानक और शान्त
भयानक	शृङ्गार, वीर, रौद्र, हास्य और शान्त

वीभत्स	शान्त और शृङ्गार
शान्त	वीर, शृङ्गार, रौद्र, हास्य और भयानक
अद्भुत रस	मित्रामित्र रूप में सम रहता है।

भाव हृदय की विशेष दशा को जो स्वाभावतः उठती है कहते हैं। रस और भाव में अन्तर यह है कि जिस स्थायी भावना से रस का उद्रेक होता है वह जब स्वच्छन्द रूप से सात्विक पवित्रता के साथ चलती है तब उसे भाव की संज्ञा प्राप्त होती है। भावना जहाँ अनुभाव और संचारी आदि से पुष्ट नहीं होती वहाँ भी वह भाव के रूप में रहती है। भाव मुख्य-तया दो प्रकार के हैं।

प्रथम स्थायी भाव जो अवस्था विशेष से होते हैं। दूसरे व्यंजित या संचारी। स्मरण रखना चाहिये कि भाव के बिना रस और रस के बिना भाव की सत्ता नहीं होती। कतिपय ऐसी भावनाएँ हैं जिन्हें ऐसा स्थायित्व प्राप्त होता है कि आचार्यों ने उनको रस-मूलक न मान कर भाव-मूलक माना है। यथा वात्सल्य और भक्ति-भाव।

रसाभास रस का अनुचित वर्णन जहाँ होता है वहाँ रसाभास माना जाता है। रस का अनुचित वर्णन वही है जिससे सहृदय या भावुक-जन के मन को कुछ खिन्नता भी ज्ञात हो। गुरु आदि पूज्य जनों के प्रति क्रोध-भाव का रौद्र-रस में वर्णन रसाभास है। जिस प्रकार रसाभास उत्पन्न होता है उसी प्रकार भाव के अनुचित वर्णन से भावाभास होता है (संचारी

भाव प्रधान होकर भाव की अवस्था में किसी दूसरे के अंग होने का आभास जब देते हैं तब भी भावाभास माना जाता है। भावशान्ति वहां कही जाती है जहां एक भाव की प्रवृत्ति में चमत्कार के साथ दूसरे विरुद्ध भाव की जागृति हो। किसी भाव के शान्त होने पर कारण-वशात् दूसरे भाव के उदय होने पर चमत्कृत भावोदय माना जाता है। दो भावों की चमत्कार युक्त समान उपस्थिति में भाव-संधि और जहां भावों का एक दूसरे से क्रमानुसार-शृङ्खला के रूप में शक्ति पहुँचाने के लिए सम्बन्ध होता है वहाँ भाव-सबलता नामक चमत्कार कहा जाता है।

शब्द और अर्थ-शक्ति

विद्वानों ने शब्दों में तीन प्रकार की प्रमुख शक्तियाँ मानी हैं। यह शक्तियाँ शब्दों में स्वाभाविक हैं। यद्यपि यह विषय विवाद-ग्रस्त और गूढ़ है, फिर भी सूक्ष्म रूप से एक व्यापक सिद्धान्त के आधार पर कहा जा सकता है कि जिस सम्बन्ध के प्रभाव से शब्द अपने सूच्य-पदार्थ या अर्थ को व्यक्त करता है उसे वृत्ति या शक्ति कहते हैं। इसके ३ रूप होते हैं:—

अविधा वह शक्ति है जिसके प्रभाव से शब्द अपने वास्तविक एक ही अर्थ को प्रगट करता है और उस शब्द के सुनते ही या पढ़ते ही उसके उस अर्थ का बोध हो जाता है।

इस शक्ति पर आधारित रह कर जब शब्दों से बना हुआ वाक्य अविधा-अर्थ या वास्तविक एक अर्थ को स्पष्ट रूप से प्रगट करता है तब उस वाक्य में प्रसाद-गुण माना जाता है। कहाँ किस शब्द का क्या अर्थ है, यह ज्ञात होता है:—

(अ) संयोग (ब) वियोग (स) साहचर्य्य (द) विरोध (क) अर्थ-प्रकरण (Context), (ख) प्रसंग (ग) चिन्ह (घ) सामर्थ्य (ङ) औचित्य (य) देश-काल-भेद और (र) स्वर-भेद (Accent) से।

लक्षणा वह शक्ति है जिसके प्रभाव से शब्द के प्रधान या मुख्य अर्थ को छोड़ कर किसी दूसरे अर्थ का ग्रहण वाक्य में उस शब्द की संगति बैठालने के लिए या उसे चरितार्थ करने के लिए, किया जाता है। जैसे यदि कहा जाय कि मेरे नेत्र आपके दर्शन से प्रफुल्लित हो गये, तो यहाँ प्रफुल्लित का अर्थ—फूलना—न ले कर, प्रसन्न होना लेना ठीक होगा। क्योंकि नेत्र फूलता नहीं।

व्यञ्जना तीसरी शक्ति है, इसके प्रभाव से उक्त दोनों शक्तियों से पृथक अर्थ का बोध शब्द या शब्द-समूह करने लगता है और साधारण अर्थ को छोड़कर किसी विशेष अर्थ को सूचित करने लगता है। यदि कहा जाय कि नन्दन के मुख से शठता झलकती है और इसके उत्तर में नन्दन यह कहे कि ठीक है आपको ऐसा क्यों न झलके जब मेरा मुख दर्पण है। इसका तात्पर्य यह होगा कि नन्दन शठ न होकर वह व्यक्ति जो शठ

कहता है, शठ ठहरेगा। इन्हीं तीनों शक्तियों पर विचार करके व्यंग्यार्थ को ही आचार्यों ने सर्वोत्तम माना है।

प्रश्न-पत्र

(१) काव्य के प्रमुख-अंगों का सूक्ष्म-विवेचन करते हुए अपना मत प्रगट करो।

(२) काव्य में रस और अलङ्कार में से कौन प्रधान है और क्यों ?

(३) शृङ्गार रस को रस-राज क्यों मानते हैं, उसके कितने भेद किये गये हैं, सूक्ष्म-रूप से लिखो।

(४) स्थायी-भाव और रसों का सम्बन्ध दिखलाते हुए प्रत्येक रस के स्थायी-भाव पर प्रकाश डालो।

(५) ध्वनि का काव्य में क्या स्थान है और लक्षणा से उसका क्या सम्बन्ध है।

(६) स्थायी-भाव और रस में क्या अन्तर है। स्पष्ट रूप से लिखो।

(७) विभाव की परिभाषा देते हुये उसके भेदों पर प्रकाश डालो।

(८) अनुभाव और उद्दीपन में क्या अन्तर है। अनुभावों को किस प्रकार विभक्त किया गया है।

(९) स्थायी-भाव और संचारी-भाव की परिभाषा देते हुए दोनों का सम्बन्ध बताओ।

(१०) रसों का परस्पर क्या सम्बन्ध है। इनकी संख्या में क्या न्यूनाधिक्य हो सकता है।

(११) अर्थ-शक्ति से तुम क्या समझते हो ? साफ २ लिखो।

(१२) व्यंजना और लक्षणा की परिभाषा देते हुए दोनों का सम्बन्ध बताओ।

Printed by—R. S Gupta, at the Agarwal Press, Allahabad.